नारी-मन

दीप्ति खण्डेलवाल

दो शब्द

मानव की एक सत्ता के अन्तर्गत होने पर भी स्त्री-पुरुष अपने-अपने विशेषणों में नितान्त भिन्न होते हैं, एक जैसे पञ्चतत्त्वों से निर्मित उनके शरीर भी एक जैसे कहाँ होते हैं ? प्रकृति-प्रदत्त उनके अंगों में ही भिन्नता नहीं होती, चेतना-प्रदत्त उनके मानस भी भिन्न होते हैं। संवेदना की भूमि पर भी वे अलग-अलग खड़े होते हैं—स्थितियों की क्रिया एवं प्रतिक्रिया में भी। उदाहरणार्थ, मानव-मन की एक कोमलतम तथा प्रबलतम संवेदना या चेतना, प्रेम होता है। अनुभूति के स्तर पर प्रेम नारी और पुरुष में एक जैसा स्पन्दित हो भी ले किन्तु अपनी क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं में नितान्त भिन्न हो उठता है—जैसे प्रेम पुरुष में अधिकार बनता है, नारी में समर्पण !

'नारी-मन' में निहित ये कहानियाँ नारी-मन की कुहेलिकाओं के विभिन्न कोणों से अंकित चित्र हैं। ये चित्र जैसे स्वयं के नारी-मन में 'साक्षात्कार' के चित्र भी हैं और स्वयं से साक्षात्कार भी कठिन नहीं होता ! फिर भी मैंने ये चित्र अंकित करने का, यह साक्षात्कार करने का प्रयास किया है और नारी-मन की हर कथा-पात्र से तादात्म्य का भी। यह 'साक्षात्कार' एवं 'तादात्म्य' अपनी विविधता एवं गहनता में जीवन से जितना जुड़ा हुआ है उतना ही जीवन्त भी है—ऐसा मेरा विनम्र विश्वास है।

इसी विनम्र विश्वास सहित अपने सुधी पाठकों को ये कृतियाँ समर्पित हैं।

दीपावली, 1977

—दीप्ति खण्डेलवाल

क्रम

वह मुहल्ले मे ही नही, शहर भर में बदनाम थी।

स्त्रिया उससे जलती थीं, उसके नाम पर थूकती थी, पुरुष उसे लोलुप नजरो से देखते, भौंरो से मडराते—केवल रस की वासना से, उसे घेरते···चखते···थूक देते।

आप सोचेंगे—वह औरत थी·· पुरुषो द्वारा चखे और थूके जाने से उसे दर्द होता होगा···पीडा होती होगी···स्त्रियो द्वारा नाम पर थूके जाने से अपमान का बोध होता होगा···

लेकिन, सच मानिए, उसे ऐसा कुछ नही होता था, न दर्द, न पीड़ा, न अपमान।

उलटे वह जरूरत पडने पर सुनाकर कहती—'वो साले हरामी! मुझपर क्या थूकेंगे! मैं ही उन्हे चखकर थूक देती हूं·· साले··· कुत्ते···लार टपकाते, पत्थर खाकर भाग निकलते हैं!

'और सुनो री छिनालो! खबरदार, जो मेरा नाम लिया! तुम सब जो छुपाकर करती हो, मैं खुले आम करती हू···बस तुममे मुझमे इतना ही फर्क है।'

सरकारी नल से पानी लेने वह सबसे पीछे आती। फिर लडती-झगडती, क्यू मे लगे कलसो, बालटियो को ठोकर मारती, बगैर प्रतीक्षा किए, सबसे आगे आ खडी होती··। नल के नीचे रखे किसीके भी कलसे या बालटी-गगरे को पैर से ठोकर मारकर लुढका देती···अप [illegible] गगरा नल के नीचे इतमीनान से टिकाकर, मंजन कर [illegible] ···उसके गगरे भरते होते, इधर वह बत्तीसी चमकाती [illegible]ती· [illegible]र और इतमीनान से अपने भरे कलसो को परे रखकर कु[illegible]ले करती, कमर मे खुंसा लक्स टॉयलेट सोप निकालकर

मुंह धोती···साड़ी कसती·· ज़रूरत समझती तो ब्लाउज़ भी कसती। फिर एक कलसा कमर पर और दूसरा सिर पर टिकाकर पूरे इतमीनान से लचकती चली जाती, दूसरा गगरा सिर पर धरवाने के लिए किसी न किसीसे हाथ लगाने को कहती तो औरतें नहीं, कोई छैला ही आगे बढ़ता—'इन्हीं कलसों को हाथ लगवाएंगी या···' वह भी न झिझकती, न बुरा मानती, न डरती—'मर्द हो तो आ जाना !' कहती चली जाती।

फिर औरतें उसका नाम ले लेकर थूकती रहतीं, देर तक—'कम्बख्त पक्की वेहया है !'

हां, वह सचमुच वेहया थी। उसने अपनी यह 'उपाधि' पूरी वेहयाई से स्वीकार भी कर ली थी—विना किसी अफसोस के, विना किसी हिचक के, वगैर किसी हया के।

वह सुन्दर नहीं थी, इतनी आकर्पक भी नहीं कि भौंरों को सरलता से आकृष्ट कर सके। भौंरों को पटाने के लिए उसे सतत प्रयास करना पड़ता था। हां, यौवन उसमें भरपूर था। उसके श्याम मुख या श्यामल गात पर आंखें टिकें न टिकें, उसके उन्नत वक्ष पर अवश्य टिक जाती थीं। जिन्हें वह पारदर्शी ब्लाउज में, वाज़ार की वनी सस्ती 'व्रा' में और उभारकर रखती। आंचल को वक्ष पर सम्भालती कम, ढरकाती ज़्यादा। छोटी-छोटी आंखों में काजल भरे कटाक्षों के कामुक आमन्त्रण के तीर साधकर चलाती। पान ऐसे खाती कि मोटे-मोटे होंठ तक सुर्ख लाल हो उठते। उसे सस्ती लिपस्टिक, पाउडर, क्रीम आदि लीप-पोतकर सजना भी आता था—वैसे, सौन्दर्य के ये उपकरण उसे हास्यास्पद ही अधिक वना जाते थे—श्याम वर्ण पर गुलावी 'पौडर', होंठों के कोनों से भी अधिक फैलाकर पोती गई सुर्ख 'लाली' (लिपस्टिक), आंखों में इतना काजल कि आंखें काजल की डिविया हो उठें···! फिर वह ...ंगों की सस्ती साड़ियां पहनकर, पूरी अभिसारिका बनी,

अपनी कोठरी की खिड़की से सटकर खड़ी हो जाती या तिपाई पर बैठी, खिड़की पर कुहनी टेके, निस्संकोच चितवन के मादक तीर चलाया करती।···कोई सीने पर हाथ मारता तो वह मुस्कराकर अपने होंठ काटने लगती। कोई आंख दबाकर अश्लील इंगित करता तो वह भी आंचल ढरकाती, भरपूर अंगडाई लेती। वे ही हार मान जाते, वह हार नहीं मानती थी···और कोई होती तो मुहल्ले में टिकने नहीं दी जाती या टिक न पाती। लेकिन उसके मुह लगने से मुहल्ले वाले घबराते थे। ईंट के जवाब में पत्थर उठाए वह तैयार रहती···दो को चार सुनाती···औरतों से हाथापाई पर उतर आती···मर्दों से खुलकर गाली-गलौज करती।

हां, वह एकदम बेहया थी। वैसे उसका नाम चन्दा था। लेकिन 'अरे वो चन्दा···वो बेहया···!' सब एक स्वर से कहते, उसे बेहया 'उपनाम' दे चुके थे। अपने इस 'उपनाम' से वह बेखबर भी नहीं थी, किन्तु उसके अस्तित्व के चिकने घड़े पर से सब कुछ फिसल जाता था, उसके आंचल की तरह। वह आंचल को सिर पर टिकाकर अपने मेहनत से रच-रचकर गूंथे गए नित नये जूड़े को छिपाना ही कहां चाहती थी? अपनी बेहयाई को स्वयं, अपने जूड़े-सा उघाड़-उघाड़कर दिखाती वह स्वीकार कर चुकी थी।

वैसे, वह ब्याहता थी। मुहल्ले के पनवाड़ी लालचंद की तीसरी 'जोरू'। लालचन्द और चन्दा की आयु में लगभग बीस वर्ष का अन्तर था—'इत्ती बड़ी तो इस जनखे की बेटी होती, अगर पैदा करता! इस मुए ने मेरी जवानी बरबाद की! कमीने मेरे बाप ने इस हरामी के हाथ बेचा, अपना बुढ़ापा आबाद किया! अरे, एक मुए ने बेचा, दूसरे ने खरीदा···मारी तो गई मैं···!' चन्दा चिल्ला-चिल्लाकर मुहल्ले वालों को सुना चुकी थी। लालचन्द पहले उसे मारता-पीटता था। फिर जाने क्या हुआ, लालचन्द की पान लगाते समय की झुकी गर्दन हमेशा झुकी रहने लगी थी। सामने पान की दुकान थी, पिछवाड़े एक कोठरी। दुकान से कोठरी में वह दो

मुंह धोती···साड़ी कसती··ज़रूरत समझती तो ब्लाउज़ भी कसती। फिर एक कलसा कमर पर और दूसरा सिर पर टिकाकर पूरे इतमीनान से लचकती चली जाती, दूसरा गगरा सिर पर धरवाने के लिए किसी न किसीसे हाथ लगाने को कहती तो औरतें नहीं, कोई छैला ही आगे बढ़ता—'इन्हीं कलसों को हाथ लगवाएंगी या···' वह भी न झिझकती, न बुरा मानती, न डरती—'मर्द हो तो आ जाना!' कहती चली जाती।

फिर औरतें उसका नाम ले लेकर थूकती रहतीं, देर तक—'कम्बख्त पक्की बेहया है!'

हां, वह सचमुच बेहया थी। उसने अपनी यह 'उपाधि' पूरी बेहयाई से स्वीकार भी कर ली थी—बिना किसी अफसोस के, बिना किसी हिचक के, बगैर किसी हया के।

वह सुन्दर नहीं थी, इतनी आकर्षक भी नहीं कि भौंरों को सरलता से आकृष्ट कर सके। भौंरों को पटाने के लिए उसे सतत प्रयास करना पड़ता था। हां, यौवन उसमें भरपूर था। उसके श्याम मुख या श्यामल गात पर आंखें टिकें न टिकें, उसके उन्नत वक्ष पर अवश्य टिक जाती थीं। जिन्हें वह पारदर्शी ब्लाउज में, बाज़ार की बनी सस्ती 'ब्रा' में और उभारकर रखती। आंचल को वक्ष पर सम्भालती कम, ढरकाती ज्यादा। छोटी-छोटी आंखों में काजल भरे कटाक्षों के कामुक आमन्त्रण के तीर साधकर चलाती। पान ऐसे खाती कि मोटे-मोटे होंठ तक सुर्ख लाल हो उठते। उसे सस्ती लिपस्टिक, पाउडर, क्रीम आदि लीप-पोतकर सजना भी आता था—वैसे, सौन्दर्य के ये उपकरण उसे हास्यास्पद ही अधिक बना जाते थे—श्याम वर्ण पर गुलाबी 'पौडर', होंठों के कोनों से भी अधिक फैलाकर पोती गई सुर्ख 'लाली' (लिपस्टिक), आंखों में इतना काजल कि आंखें काजल की डिबिया हो उठें···! फिर वह [illegible] रंगों की सस्ती साड़ियां पहनकर, 'पूरी अभिसारिका बनी,

अपनी कोठरी की खिड़की में सटकर खड़ी हो जाती या तिपाई पर बैठी, खिड़की पर कुहनी टेके, निस्संकोच चितवन के मादक तीर चलाया करती।···कोई सीने पर हाथ मारता तो वह मुस्कराकर अपने होंठ काटने लगती। कोई आख दबाकर अश्लील इंगित करता तो वह भी आचल ढरकाती, भरपूर अगड़ाई लेती। वे ही हार मान जाते, वह हार नही मानती थी···और कोई होती तो मुहल्ले में टिकने नही दी जाती या टिक न पाती। लेकिन उसके मुंह लगने से मुहल्ले वाले घबराते थे। ईंट के जवाब में पत्थर उठाए वह तैयार रहती···दो की चार सुनाती···औरतों से हाथापाई पर उतर आती···मर्दों से खुलकर गाली-गलौज करती।

हां, वह एकदम बेहया थी। वैसे उसका नाम चन्दा था। लेकिन 'अरे वो चन्दा···वो बेहया···!' सब एक स्वर से कहते, उसे बेहया 'उपनाम' दे चुके थे। अपने इस 'उपनाम' से वह बेखबर भी नही थी, किन्तु उसके अस्तित्व के चिकने घडे पर से सब कुछ फिसल जाता था, उसके आचल की तरह। वह आचल को सिर पर टिकाकर अपने मेहनत से रच-रचकर गूथे गए नित नये जूड़े को छिपाना ही कहा चाहती थी? अपनी बेहयाई को स्वयं, अपने जूड़े [illegible] उघाड़-उघाडकर दिखाती वह स्वीकार कर चुकी थी।

वैसे, वह ब्याहता थी। मुहल्ले के पनवाडी लालचद की दोसरी 'जोरू'। लालचन्द और चन्दा की आयु मे लगभग [illegible] वर्ष का अन्तर था—'इत्ती बडी तो इस जनखे की बेटी होती, [illegible] पैदा करता! इस मुए ने मेरी जवानी बरबाद की! [illegible] मेरे बाप ने इस हरामी के हाथ बेचा, अपना बुढ़ापा आबाद किया! अरे एक मुए ने बेचा, दूसरे ने खरीदा···मारी तो गई मैं···!' चन्दा चिल्ला-चिल्लाकर मुहल्ले वालों को सुना चुकी थी। लालचन्द पहले इसे मारता-पीटता था। फिर जाने क्या हुआ, लालचन्द की [illegible] समय की झुकी गर्दन हमेशा झुकी रहने लगी थी। [illegible] की दुकान थी, पिछवाडे एक कोठरी। दुकान से कोठरी [illegible]

समय रोटी खाने जाता, रात को सोने। शेप समय चुपचाप पान, सिगरेट, लेमनचूस वेचा करता। लोग-वाग भी सुना-सुनाकर फब्तियां कसते चुप हो गए थे—'जोरम जोर जुरौरा, ये नकटी वे वौरा ! साले दोनों वेहया हैं···हजिड़े की लुगाई हरजाई···!'

'हां, हां, हिजड़े की लुगाई हरजाई। चलो, तुम हरामियों को ठीक समझ तो आया !' लोग-वाग चुप हो गए, चन्दा स्वयं ही चीखने लगी थी—'हिजड़े की लुगाई हरजाई ?'

फिर जाने क्या चमत्कार हुआ ! चन्दा ने व्याह के पूरे सात साल वाद वेटा जना। 'जाने किसके साथ मुंह काला किया है !··· जाने किसका पाप है···!' लोगों की ज़वानें एक वार फिर चीखने-थूकने लगीं।

जवाव में लालचन्द का सिर और झुक गया, लेकिन चन्दा और प्रचंड हो उठी—'अरे, अपने-अपने गिरेवान में झांककर देखो न कि किसका पाप है या मैं ही तुम्हारे नाम गिनवाऊं···? फिर तुम्हारी अम्माएं या जोरूएं तुम्हें जिन्दा रहने देंगी···? वोलो, गिनवाऊं नाम···?'

'वाप रे, ऐसी वेहया तो न देखी, न सुनी !' कहते मर्द ही नहीं, औरतें भी चुप हो गईं।

लेकिन, जव वच्चा धीरे-धीरे साल भर का हुआ तो शक्ल-सूरत से विलकुल लालचन्द हो उठा। वैसा ही मरियल, वैसा ही घिनौना भी। 'भाई, चाहे वो वेहया कित्तों के साथ भी सोई हो, वच्चा ज़रूर लालचन्द का है।' लोगों ने स्वीकार कर लिया।

प्रकृति के नियमानुसार वच्चा समय के साथ वढ़ने लगा। चन्दा जैसी थी, वैसी ही रही आई। चन्दा पर न पत्नीत्व हावी हो पाया था, न मातृत्व हो सका। हां, वह वच्चे को साफ-सुथरा रखती। अपनी आंखों के साथ उसकी आंखों में भी काजल आंज देती। ढेर सारा तेल लगाकर, अपना जूड़ा गूंथती, तो तेल सने हाथों से शिशु का सिर भी चुपड़ देती। लक्स सोप से जितनी वार अपना मुंह धोती, उतनी वार उस वच्चे का भी। स्वयं 'पौडर' लगाती,

तो बच्चे को भी पोत देती। दिन मे दो बार अपनी साड़ियां बदलती तो इन सब अत्याचारो के लिए चीख-पुकार मचाते, शिशु को घप् जडती, उसके झबले, कुरते भी जरूर बदलती···और जीवन मे पहली बार उसने स्वेटर बुना, उसी 'चाटे' खाते शिशु के लिए, जिसे एक स्तन पी चुकने के बाद वह घसीटकर दूसरे स्तन से लगाती बड़बड़ाया करती—'मर, पी ले निगोडे! तो छाती तो हलकी होवे। मार इत्ता दूध कहा से फट पडा है इन छातियन मे, भगवान ही जानें।' भगवान का नाम भी चन्दा की जबान पर एक गाली-सा ही बनकर आता। वरना 'भगवान से तो डर!' कहने वालो को वह सुना चुकी थी—'काहे डरूं? ये तुम्हारे भगवान थानेदार है क्या जो हथकडी लगवाय देंगे! अरे, मुओ! तुम अपनी फिकर करो मरग जाने की···चन्दा को तो ई दुनिया मे भी नरक मिला है, ऊ दुनिया मे भी मिलेगा··चलो, अपना तो नरकई भला!' दुनिया के साथ स्वर्ग और भगवान को भी ठेंगा दिखाती चन्दा ने एक चुनौती देता-सा गाना और सीख लिया था—

> 'भगवान दो घडी, जरा इन्सान बन के देख
> दुनिया मे चार दिन जरा मेहमान बन के देख!'

चन्दा ने अपने बेटे का नाम रखा—अशोक कुमार। वह अशोक को 'असोक' कहती या कह पाती। असोक कहती, आवाज देती, रोमाचित हो उठती—'और नहीं तो क्या, बुढऊ लालचन्द के बेटे का नाम मूलचन्द धरूं! अरे मेरा बेटा तो असोक है—असोक कुमार! न इसे पनवाडी बनने दूगी · ये तो उचा अफसर बनेगा, अफसर! देख लेना हा··'

और चन्दा ने सचमुच अशोक को एक अच्छे प्राइमरी स्कूल में भरती करवा दिया। बढ़ते खर्च के एवज मे वह भी खुले आम शहर के बिगड़े रईस घनश्याम की रखैल बन गई। शाम को सेठ घनश्याम दास की मोटर सप्ताह मे एक या दो बार आती। चन्दा साझ ढले जाती, रात गए आती। आती तो उसके कदम लड़खड़ाते होते शराब

के नशे में···जूड़े में चमेली का गजरा महकता होता···वदन पर कीमती साड़ी होती···कमर में खुंसा 'बटुआ नोटों से भरा होता और वह गाती होती—'सैंया भए कोतवाल, अब डर काहे का··· हां रे। डर काहे का!' सचमुच मुहल्ले वाले अब चन्दा से डरने लगे थे—सेठ घनश्याम दास जी की हैसियत, जोर, प्रभाव के कारण।

'अरे बाबा, ये चन्दा तो सच्चई अकास पर चढ़ गई···! अब न मुंह खोलो भैये, नहीं तो चन्दारानी 'अन्दर' करवाय देंगी··· कोतवाल सैंया जो फांसा है! सुना नहीं, कैसे झूमकर गाती है— सैंया भए कोतवाल हमें डर काहे का!' और चन्दा के गाने की आवाज़ जितनी ऊंची होती गई, मुहल्ले वालों की आवाज़ें उतनी नीची होती गई, बन्द-सी हो गई।

इस बीच लालचन्द को लकवा मार गया था। पान की दुकान बन्द हो गई थी। और अशोक बारह वर्ष का हो चला था। चन्दा उसे देहरादून के स्कूल में भेज देना चाहती थी—वहीं के बोर्डिंग में पढ़ा-लिखाकर 'आदमी' बनाने के लिए—'इस मुहल्ले के कंजड़ों के बीच तो लौंडा बिगड़ जाएगा···ई हरामी क्या उसे आदमी बनने देंगे!' चन्दा ने सेठ घनश्यामदास के जरिए अशोक को देहरादून भेजने का इन्तजाम कर लिया था।

अशोक के जाने का दिन था। चन्दा उसके कपड़े-लत्ते सहेजकर सन्दूक में बन्द कर रही थी, आंखों में आंसू लाती नहीं, सदा की भांति अपने बेहया गीत गाती—'सिपहिया जालिम! सारी-सारी रात सोवै न देवे···हाय रे! सोवै न देवे!'

सहसा गली में शोर मच गया···चन्दा ने खिड़की से झांककर देखा, अशोक मुहल्ले में गुंडे लड़के कल्लन से गुंथ गया था, मार खा रहा था, मार भी रहा था···कल्लन के एक ज़बर्दस्त मुक्के के प्रहार से अशोक खून उगलने लगा···। चन्दा दौड़ी···एक पत्थर उठाकर कल्लन को दे मारा—'साले? तेरी ये मजाल! सात-साल की पिसवा दूंगी।' कल्लन भाग गया। चन्दा बेहोश-से अशोक को कोठरी में उठवा लाई···आंचल से मुंह से बहता रक्त पोंछ, दूध

गरम करके पिलाया···दौड़कर मुहल्ले के वैद्यराज से दवा लाकर पिला दी—'लेकिन अशोक ! तेरे दम तो है नहीं रे। डेढ पसली का है·· उस मुए कल्लन से का भिड गया रे !' चन्दा ने अशोक से पूछा।

अशोक ने अपनी दर्द और आंसुओं से लाल आखें खोलीं—'कल्लन तुम्हें गाली दे रहा था मां। उसने तुझे···उसने तुझे···' अशोक उत्तेजना से कांपने लगा था—'उसने तुझे छिनाल कहा मां। वेहया कहा·· बापू को भी गाली दी तो मैं सह गया···लेकिन तेरी गाली नहीं सहूंगा···। अच्छा मां, तू ही एक बार कह दे कि तू वेहया नहीं है—मैं मान लूंगा, चाहे फिर हर कोई कहता रहे।'

और···अशोक के प्रश्न के उत्तर में 'वेहया' चन्दा पहली बार आंचल से मुख ढांपकर फूट-फूटकर रोने लगी थी।

अपराजिता

'खासी ठण्ड पड़ रही है इस बार सियेटल में भी···'कहता हुआ वह अपने कीमती ओवरकोट का कालर ऊंचा कर लेता है—खूब सजता है यह काला ओवरकोट उसपर ! स्टेट्स में चार वर्ष से है। प्रायः लोग उसके लालिमा लिए गौरवर्ण, ऊंचे कद, किन्तु काली आंखों व काले वालों को देखकर पूछते थे—'आर्मेनियन···?' वह हंसकर उत्तर देता था—'नो, इंडियन ! आइ कम फ्रॉम इंडिया !' ऐसे प्रश्नकर्ता पुरुष उससे शेकहैंड करते प्रायः इतना कहकर चुप हो जाते—'वट, यू डोंट लुक एन इंडियन !' किन्तु महिलाएं, विशेषतः युवतियां, उससे यह प्रश्न पूछकर चुप न होतीं। आंखें गड़ा-गड़ाकर उसे देखतीं, प्रायः उससे एक शाम साथ गुजारने की मांग कर बैठतीं। उसे भी, यदि वह 'फ्री' होता तो कोई आपत्ति न होती—विशेषतः 'वीकएंड' के समय में, अर्थात् शनिवार की शाम से सोमवार की सुवह या रविवार की रात तक।

वैसे भीड़-भाड़, पिकनिक, पिक्चर या 'ब्लू फिल्म्स' तक में उसे विशेष दिलचस्पी नहीं थी। भीड़ में वह और भी अकेलापन महसूस करता था···और 'ब्लू फिल्म्स' की नग्नता उसे उत्तेजित नहीं कर पाती थी···वलिक उबा-सा देती थी, यानी उत्तेजनाओं के साधन उसके रक्त को और गरम करने के बजाय, और सर्द-ठण्डा कर देते थे···और ऐसी वर्फीली ठंडक से उबरने के लिए उसे बार-बार ब्रांडी पीनी पड़ती थी·· वह पीता था तो शरीर में गरमी दौड़ने के साथ चेतना के वे सर्द एहसास भी 'नार्मल' रूप में गर्म हो जाते थे—हां, 'नार्मल'—'जस्ट नार्मल' बस एक 'ऊब का एहसास' था, जो इस सारी गरमी को नकारकर और गहरा होकर रह जाता था···।

जूली, क्रिस्टीना, सिल्विया और सुनीता—ये चार युवतियां इस दौरान उसके काफी निकट आई। इनमें जूली सबसे 'फास्ट' थी—शायद अमरीकी होने के कारण। उसकी नीली आखो में शोले भड़कते रहते···सुडौल गोरी पिंडलिया, जाघ तक उघड़े कसे स्कर्ट-ब्लाउज में ढंके से अधिक खुले उसके मोहक उभार···उसके नपे-तुले नाचते-से कदम नशा-सा बिखेरते रहते···। वह 'मॉडल गर्ल' थी—किसी दिन मैरिलिन मनरो बनने के सपने देखा करती थी। और सुनीता···उन चारों मे सबसे अधिक 'डल' थी—शायद 'इडियन' होने के कारण। रिसर्च के सिलसिले में फेलोशिप के बूते पर वह स्टेट्स आई थी। आखें और बाल तो उसके भी बेहद 'काले' थे, किन्तु वर्ण सावला था, बगाल के पानी की सावली स्निग्धता लिए। अत: सुनीता के 'इडियन' न होने का भ्रम किसीको नही होना था।

जूली की नीली आखो में भड़कते शोले की तुलना मे सुनीता की गहरी काली पनीली-सी आखो मे किसी ठडी आग का-सा आभास होता···प्राय वह मन ही मन जूली और सुनीता की आखो की तुलना किया करता···जूली की बेबाक उद्दाम पारे-सी चचल दृष्टि और सुनीता की शात, स्थिर, पल-भर उठकर झुक जाने वाली चितवन···! 'अब बताइए सुनीताजी आई है स्टेट्स में, लेकिन उठती-झुकती चितवन का इडियन ट्रेड मार्क लगाए घूमती है··· दीज इडियन गर्ल्स आर जस्ट फूलिश !' वह स्वय से कहता। सुनीता से परिचय के दौरान मे, सुनीता के बारे में उसकी यह राय निरंतर पक्की होती गई थी—'दीज इडियन गर्ल्स आर जस्ट फूलिश !···'

जूली ने जब उसे पहली बार सुनीता के साथ देखा, तो चीख पड़ी थी—'यू चीट !' बात सिर्फ इतनी थी कि वह सुनीता को हाथ का सहारा देकर कैब से उतार रहा था। सुनीता को तेज फ्लू हो गया था और एक ही एपार्टमेंट के अलग-अलग कमरो में अलग-अलग ठहरे हुए वे, इडियन होने के नाते, कुछ निकटता महसूस करने लगे थे और पुरुष होने के कारण उसने सुनीता की अस्वस्थता

को देखकर 'केयर' देनी चाही थी, सुनीता के अस्वस्थ क्षणों के नारीत्व को ज़रा-सा सहारा देना चाहा था—वह भी सुनीता की खातिर नहीं, अपने किसी 'ईगो' की तुष्टि के लिए। उसका वह ईगो जूली के सान्निध्य के क्षणों में उद्दाम वेग से भड़कता···आकंठ तृप्त भी होता···पर तुष्ट नहीं हो पाता···जूली उससे बार-बार कहती, 'डियर मी ! यू आर जस्ट वन्डरफुल···। इफ आइ एवर मैरी, आइ शैल मैरी ओनली यू···'

जूली की शोलों-सी भड़कती नीली आंखों और सुनीता की धीमी-धीमी सुलगती ठंडी आग लिए पनीली-सी आंखों की तुलना के बीच वह 'तृप्ति' और 'तुष्टि' शब्दों के अर्थों की तुलना भी करने लगा था—उसे लगने लगा था कि 'तृप्ति' और 'तुष्टि' के शाब्दिक अर्थ चाहे एक हों, उनके वास्तविक अर्थों में कोई अन्तर अवश्य है··· और इस अन्तर को सुलझाने की चेष्टा में वह और उलझकर रह जाता था।

सुनीता को बांह का सहारा देकर उतारते देखकर जूली पतली तेज आवाज में चीखी थी—'यू चीट !' सुनीता लड़खड़ा गई थी। एक आहत-सा भाव उसके मुख पर तुरंत उभर आया था—'मैं खुद कमरे तक चली जाऊंगी···लिफ्ट भी तो है ··आप उसके साथ चले जाइए···शायद आपकी गर्लफ्रेंड है, बुरा मान रही है।'

उसे भी शरारत सूझी थी—जूली को जलाने के लिए उसने सुनीता की बांह और कसकर थाम ली थी, सुनीता को घेरे-घेरे चलने लगा था, जूली को 'वेव' करते मुस्कराकर कहा था—'शैल सी यू अगेन !'

'व्हाट अगेन ! यू चीट !' जूली ने फिर चीखकर कहा था।

'शी इज़ डिफाइनिंग हरसेल्फ, नॉट मी। डोंट केयर, आप मेरे साथ ही चलिए। वह जूली को 'वेव' करता, सुनीता के कंधे पर झुककर कहता मुस्कराता, इत्मीनान से सुनीता के साथ उसके रूम तक गया था···फिर उसने और सुनीता ने पहली बार साथ-साथ कॉफी पी थी—'थैंक यू···थैंक यू वेरी मच मिस्टर अहूजा फॉर युवर काइंड

हेल्प !' सुनीता ने अमरीकी धन्यवाद के ढग मे इडियन ढंग से ही कहा था—अर्थात् बेबाक दृष्टि उठाकर नही, सकोची पलको को झुकाकर ही ।

फिर, जब एक बार '*ब्लू फिल्म*' देखकर भी *वह गरम न हुआ* जितना होना चाहिए था, तो उसके पहलू में बेहद गरम, उत्तेजित हो उठी जूली ने कसकर उसकी बाह पर चिकोटी काटी—'तुम्हे किसी साइकाएट्रिस्ट को कन्सल्ट कर लेना चाहिए, जल्दी···!'

'*सच क्या ! अच्छा चलो, हर्ज क्या है···?' वह स्वय को समझाता*-बुझाता एक अनुभवी वृद्ध अमरीकी साइकाएट्रिस्ट के पास ले गया। साइकाएट्रिस्ट डॉक्टर ने अपनी दृष्टि से, दृष्टिकोण से उसको पूरा चेक किया, नकली दातो वाली एक असली-सी हसी हसते बोले—'यू आर ए पिक्चर ऑफ हेल्थ माई बॉय ! तुम्हारी "ट्रबल" तुम्हारे शरीर में कही नही, तुम्हारे दिल-दिमाग मे है···यू आर एन इन्टलेक्चुअल ! सो, द ट्रबल लाइज हियर, नॉट हियर !' डॉक्टर ने 'द ट्रबल लाइज हियर' कहते हुए हसकर उसके हृदय और मस्तक को तर्जनी से छुआ—'नॉट हियर' कहते उसका पेट थपथपा दिया—'*गो एड एन्जॉय लाइफ कैशिग द मोमेन्ट्स एड वेविंग द रेस्ट !*'

'कैशिग ऑर कैचिंग··· व्हाट डू यू मीन डॉक्टर ?'

'कैशिग'···वृद्ध डॉक्टर ने बिलकुल स्पष्ट, बेबाक लफ्जो मे जोर से हमकर कहा।···'नेक्सट पेशेन्ट ! ओ० के०, चीयर्स !' और वे दूसरे मरीज को देखने लगे थे।

'कैशिग'···अर्थात् सिक्को-सा भुनाना और 'कैचिंग' अर्थात् पकड लेना···क्या जिन्दगी के लम्हे सिक्को जैसे भुनाए, खरीदे-बेचे और खर्च किए जा सकते हैं ?—हा, जैसे आप कोई 'चीज' कोई भी 'जरूरत' खरीदते हैं, क्या जिन्दगी भी केवल सिक्को जैसे स्थूल लेन-देन मे खरीदी और बेची जा सकती है···? 'वेविंग द रेस्ट' अर्थात् स्थूलता के नेपथ्य मे किसी भी सूक्ष्मता को उपेक्षित कर या नकारकर, भुनाकर···? 'कैचिंग' तक तो गनीमत थी, यानी कि जीवन के कुछ क्षणो को 'पकड़ने में', आलिगनबद्धता जैसे किसी पाश,

में जकड़ने में भी, कुछ तो मानवीय चेतना के स्तर से भी जुड़ सकता था···किन्तु 'कैचिंग'···रॉकेट एज से जेट एज तक पहुंचकर 'कैशिंग' बन गया है—अमरीका इंग्लैंड जैसे अति सभ्य, सुसंस्कृत, समृद्ध, धरती से निरंतर आकाश की ओर उठते देशों का यह 'कैशिंग लाइफ' 'एन्जॉय लाइफ', 'कैशिंग द मोमेन्ट्स एंड वेविंग द रेस्ट'··· आधुनिकतम जीवन-दर्शन बन गया है—बिलकुल नकद हिसाब जैसा···न कोई उधार, न कुछ आगे न पीछे···वह बिलकुल समझ गया था—वृद्ध साइकाएट्रिक डॉक्टर ने उसे सामने आ खड़े क्षणों को सीधे-सीधे भोग लेने का, 'एन्जॉय' कर लेने का जीवन-दर्शन समझा देना चाहा था—'नौ नकद न तेरह उधार' जैसा सीधा, गणित के जोड़-बाकी जैसा जीवन-दर्शन !

फिर 'कैशिंग' और 'कैचिंग' के संदर्भ में जूली और सुनीता उसकी आंखों में और भी उभरने लगीं···जूली उसके पहलू को कई बार गरम कर चुकी थी···सुनीता की आंखों की ठंडी आग उसके 'सर्द एहसासों' को और भी सर्द करके छोड़ देती थी···जूली के साथ बिताए क्षण रंगीन होते थे···सुनीता के साथ अगर वह कुछ क्षण बिताना चाहे तो उनका क्या रंग होगा ?—वह सोचता रह जाता था ।

वह दो वर्ष से स्टेट्स में था । सुनीता दो वर्ष पश्चात् आई थी । चार-छह महीने तो उनके बीच, केवल एक एपार्टमेंट के अलग-अलग कमरों में रहने का, औपचारिक-सा रिश्ता रह आया···'हैलो, हाउ डू यू डू' कहते वे औपचारिक ढंग से एक दूसरे के पास से गुज़र जाते । सुनीता बहुत चुप रहती···वह बहुत बोलने का स्वभाव होने पर भी सुनीता की चुप्पी के सन्मुख जाने क्यों निःशब्द हो उठता··· 'उंह ! ऐसा है भी क्या उस लड़की में ?···जस्ट एन एवरेज टाइप इंडियन गर्ल ! नो डाउट ब्रिलिएंट !' सुनीता के रिसर्च-पेपर उसने देखे थे—'सिम्पली ब्रिलिएंट !' उसके होंठों से बरबस निकला था । 'थैंक्स' कहती सुनीता की आंखों में उसके कॉम्प्लिमेंट्स भी कोई

प्रतिक्रिया नहीं जगा सके थे···इस लडकी को भी साइकाएट्रिस्ट को दिखाना चाहिए—उसने झल्लाकर अपने-आपसे कहा था···किन्तु सुनीता से कुछ भी कहने का साहस पता नहीं उसे क्यों नहीं हो पाता था। 'लेट हर गो टु हेल।' कहता वह, सुनीता के बारे में जितना कम सोचना चाहता···उतना ही अनजाने, बरबस ज्यादा से ज्यादा सोचने लगा था···और अस्वस्थ सुनीता को सहारा देते, जूली की 'यू चीट' के प्रत्युत्तर में 'सैल सी यू अगेन' कहते, जब वह सुनीता की फ्लू से तपती देह को बांहों में घेरकर उसके कमरे तक लाया था, तो उसे लगा था—जाने कैसे सुनीता और उसके बीच का फासला काफी कम हो गया है···अचानक।

फिर उसने सुनीता से उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में पूछा था, 'इफ यू डोंट माइंड टेलिंग मी एबाउट युअरसेल्फ···' (यदि आपको अपने बारे में मुझे कुछ बताने में आपत्ति न हो तो···)उसने कहा था।

वह शनिवार की एक शाम थी। बाहर बर्फ गिर रही थी। एयर कंडिशन के कारण कमरे का तापमान सुखद रूप से गरम था। ·· सुनीता के कमरे का। उसके अपने कमरे का तापमान तो एयर कंडिशनर के बावजूद उसे सुखद नहीं लग रहा था। उसने ब्राडी भी पी थी···फिर भी जब बाहर गिरती बर्फ, उसके भीतर भी गिरने-सी लगी थी···तो वह घबराकर, पहली बार सुनीता के कमरे में आया था—'आपके साथ कुछ समय गुजार सकता हूं ?'

'यू आर मोस्ट वेलकम···!' कहती सुनीता कॉफी बनाने लगी थी। कॉफी बनाती सुनीता की स्थिरता को देखते वह अस्थिर होने लगा था—अजीब है, यह लडकी भी ! ऐसी खूबसूरत भी नहीं कि इसे अपनी खूबसूरती का कोई गुमान हो। फिर क्या है इसमें अ··· जेय जैसा कि वह उसके सम्मुख पराजित-सा होकर रह जाता है··· उन क्षणों का पराजय-बोध उसके भीतर इतना प्रबल हो ··· कि वह किसी भांति सुनीता की अपराजेयता को

लगा था ।

'वहां, इंडिया में आपके परिवार में कौन-कौन हैं?' उसने सहज होने की भरपूर कोशिश करते हुए पूछा था।

'ममी, पापा, दो भाई और दो बहनें···और मैं क्यू में लास्ट हूं।' सुनीता हल्के-से मुस्कराई थी, वही अपराजेय-सी मुस्कान कि वह और जल गया था। इसका नाम तो 'अपराजिता' होना चाहिए था···! कुछ भी तो विशेष नहीं है इस लड़की में···फिर क्यों वह उसके सामने हार-हार जाता है···? स्वयं से कहता हुआ वह आंखें गड़ाकर सुनीता को कॉफी सिप करते देख रहा था। सुनीता कभी खिड़की से बाहर देखती, कभी उसकी ओर, कभी किसी ओर नहीं···प्रकट में वह बिलकुल शांत थी, सुस्थिर···क्या अप्रकट में भी यह लड़की ऐसी ही है—जानकर रहूंगा···उसे ज़िद चढ़ने लगी थी ।

'मिस सुनीता, आप बुरा न मानें तो आज अपने बारे में कुछ बताइए, साफ-साफ···एक दोस्त के नाते पूछ रहा हूं···मेरा और कोई मतलब नहीं है।' उसने अपनी कांपती आवाज़ के कंपन को छिपाते हुए कहा था ।

सुनीता के होंठ हल्के-से कांपे थे···उसने लक्ष्य किया·· और सुनीता ने अपने होंठों के कंपन को छिपाने का कोई प्रयास भी नहीं किया था—'मेरे आसपास कुछ भी विशेप नहीं है मिस्टर अहूजा··· आइ एम जस्ट एन आर्डिनरी गर्ल, विद एवरिथिंग जस्ट आर्डिनरी एराउण्ड मी!' (मैं एक साधारण लड़की हूं और मेरे चारों ओर भी सब कुछ साधारण है!) हां, स्टेट्स आई हूं—बस, शायद एक यह बात आर्डिनरी नहीं है।' और वह खुलकर हंस पड़ी थी—एक निरभ्र-सी हंसी···जैसे उस हंसी में किसी छल का कोई बादल न हो···निरभ्र नीले आकाश से हल्की किरणों-सी झरती हंसी थी वह···

अमरीका में रहते वह ऐसी निरभ्र हंसी किसी युवती के निर्दोष होंठों पर देखने के लिए तरस-सा गया था। क्रिस्टीना और सिल्विया

ठहाके लगाती थी। जूली हसती भी थी तो, पतली तेज आवाज में चीखती-सी'' और उन विदेशी युवतियों के होंठ 'निर्दोषता' के नाम पर और हम पडते थे—'आर वी किड्स टु वी इनोसेंट ? वी नो व्हाट लाइफ मीन्स।' (क्या हम नन्ही बच्चियां हैं जो मासूम हो ? हम जानती हैं जिन्दगी का अर्थ क्या होता है ·।) जूली ने तो खुल-कर व्यग्य किया था—'इनोसेंट ? तुम हमे निर्दोष देखना चाहते हो ? दिस इज नथिंग बट युअर फुलिश इंडियन इनहिबिशन !'' 'मे वी···' कहता वह 'इनोसेंट' (निर्दोष) शब्द की कोई परिभाषा सोचता रह गया था—भारतीय और विदेशी युवतियो के सदर्भ मे'' किन्तु सोच नही पाया था।

'शायद आप नहीं जानती कि आपकी साधारणता ही आपकी असाधारणता है·· ' वह सुनीता को निर्निमेष देखता अचानक कह गया था।

सुनीता ने उसकी निर्निमेष दृष्टि के सम्मुख पलके झुका ली थीं··· साडी का आचल उगलियों पर उमेठने-खोलने लगी थी—'शायद यह आपकी गलतफहमी है ! मैं बिलकुल साधारण हू · एंड आइ नो एग्जेक्ट माइसेल्फ कि मैं क्या हू—क्या नहीं।' सुनीता का स्वर मृदु नारी-स्वर था, हल्का, मीठा·· गुजित। किन्तु उसे लगा था—सुनीता के स्वर मे कोई वजन है · और उस 'वजन' की तोल पाना कठिन है।

'आप गाती तो होगी ? बगाल की है। सो सुनाइए कोई रवीन्द्र सगीत···आपकी आवाज काफी मीठी है।'

लेकिन आप तो पजाबी हैं, आपको बगला कहा समझ मे आएगी···?' सुनीता फिर मुस्कराई थी।

'लेकिन रवीन्द्र सगीत समझ मे आ जाएगा' यू नो, इट्'ज यूनिवर्सल ! आइ मीन द ब्यूटी ऑफ एनी ट्रू आर्ट हैज यूनीवर्सल अपील !' (*किसी सच्ची कला के सौन्दर्य में सार्वभौम आकर्षण* होता है।)

फिर सुनीता बिना किसी नखरे के गाने लगी थी—कोई बगला

गीत···वैसे ही आंचल को उमेठती-खोलती, पलकें झुकाती या उठाकर भी किसी ओर न देखती-सी !

सुनीता कब तक गाती रही, कब चुप हुई···उसे पता नहीं लगा। वह स्वर के परे, सुनीता के परे कहीं खो गया था···कि धम्-धम् करती जूली आ गई थी—'सो यू आर हियर, कम ऑन !' कहती उसे घसीट ले गई थी।

'आपको जूली का मिसविहेवियर बुरा नहीं लगता ?' क्षमा-याचना-सी करते उसने सुनीता से पूछा था।

'नहीं तो। उसका आपपर जो अधिकार है, उस अधिकार का वह आपपर प्रयोग करती है तो मुझे क्यों बुरा लगेगा···?' सुनीता सहज थी। वह और असहज हो गया था—'वाकई किस मिट्टी की बनी है यह लड़की कि इसको समझ पाना ही मुश्किल है···?'

उसके बाद वह जूली के गरम आलिंगनों में और सर्द होने लगा था···और सुनीता का कोई भी 'एहसास' होते ही उसका वक्ष ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगता था···यद्यपि सुनीता और उसके बीच के 'एहसास' खामोश थे। उसे इस खामोशी को तोड़ने की ज़िद-सी चढ़ने लगी। आखिर क्या है इस साधारण-सी, सांवली बंगाली लड़की में कि वह उसके सम्मुख बिना लड़े ही हारने-सा लगता है···लेकिन कृष्णकांत कभी नहीं हारा···हारेगा भी नहीं···उसके 'डाइनेमिक' व्यक्तित्व के आकर्षण से तो भारतीय से लेकर यूरोपियन लड़कियां तक खिंची चली आती रही हैं···बस, यह सुनीता ही···

जैसे किसी फैसले के लिए उसने एक शाम सुनीता के लिए रिज़र्व कर ली। जूली से कह दिया कि वह काम से बाहर जा रहा है, अगले सप्ताह लौटेगा। 'तुम्हारे साथ वो काली लड़की भी जाएगी क्या···?' जूली फोन पर चीखी। उसने बिना उत्तर दिए रिसीवर रख दिया, निश्चय कर लिया था कि अब वह जूली के हाथों सुनीता को अपमानित नहीं होने देगा।

उसने दिन में ही सुनीता से 'फिक्स अप' कर लिया था कि वह

एक शाम शान्ति से सुनीता की कम्पनी में, उसके एपार्टमेंट में, उसके सान्निध्य में बिताना चाहता है—'विद यू एलोन !' उसने कहा था—'बिलकुल और केवल आपके साथ !'

'यू आर मोस्ट वेलकम ! मैं तो वैसे भी रोज ही शाम को फ्री रहती हूं''' वही मीठा, सहज, गुंजित स्वर'''यह लड़की 'असहज' क्यों नहीं होती ? क्या इसके रक्त में यौवन की उष्णता नहीं ? क्या इसके वक्ष में नारी-मन के स्पंदन नहीं ? यह ऐसी प्रस्तर-प्रतिमा-सी क्यों है ?' वह जानकर रहेगा''''' सुनीता की 'सहजता' कृष्णकान्त के लिए एक चुनौती बन गई थी।

'हैलो, गुड ईवनिंग !' उसने अपना झकझकाता गोरा हाथ बढ़ाया।

'नमस्कार, वेलकम ! आइए !' सुनीता ने अपनी सावली हथेलियां नमस्कार की मुद्रा में जोड़ दीं। उसकी आंखों में वही सहज निर्दोष स्वागत था।

उसने अपमानित-सा महसूस किया। यह लड़की उसके बढ़े हाथ को लौटा रही है''' 'व्हाट ए फूलिश गर्ल'''।

सुनीता प्यालों में कॉफी उंडेलने लगी थी। उसने कुछ नमकीन चिप्स तलकर रखे थे और रसगुल्ले भी बनाए थे—'आपके लिए यह कुछ बनाया है। देखिए, बनाया है या बिगाड़ा है !' सुनीता ने हंसकर रसगुल्लों की प्लेट उसकी ओर बढ़ा दी।

'आप चाहें तो मुझे भी बना सकती हैं'''काफी बिगड़ गया हूं।' वह अपने को रोक नहीं सका, अनायास कह गया '''उसने पाया कि उसका पुरुष-वक्ष धड़कने लगा है तीव्रता से ''किन्तु सुनीता के मुख पर फिर भी कोई स्पंदन नहीं उभरा'''बस, वह एकदम मौन हो गई।

'आइ एम सॉरी मिस सुनीता, अगर मैं कुछ गलत कह गया होऊं''' लेकिन आज मुझे आपसे कुछ पूछना ही है, अगर आप इजाजत दें'''शायद आप कहेंगी, क्यों पूछना है ?'''तो मेरा उत्तर होगा, इसलिए कि आपके उत्तर से मुझे कुछ लेने-देने जैसा

हो गया है···' कृष्णकांत ने पाइप सुलगा ली। गहरे कश लेता वह सामने बैठी उस साधारण, सांवली युवती को अपलक देखने लगा था···प्रत्युत्तर में सुनीता की गहरी काली, पनीली-सी आंखें भी उसे निर्निमेष देखने लगी थीं—उनकी नमी गहरा उठी थी। किन्तु उसके स्निग्ध सांवले कपोलों पर कोई रक्ताभा झलकी न थी··· एक रक्तहीनता-सी छाने लगी थी—'मिस्टर कांत! एक्सक्यूज़ मी! मेरे पास किसीको देने के लिए कुछ भी नहीं है।'

'आप···आप ले तो सकती हैं, यदि कोई कुछ देना चाहे···या लेने का भी स्कोप नहीं है?'

'मेरे पास किसी देन-लेन का कोई स्कोप नहीं है···मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए···' सुनीता की आंखें पथराने लगी थीं···किसी असह्य चोट से आहत-सी।

'आखिर बात क्या है, शायद आपका कोई और अफेयर है? आर यू इन लव विद समबडी? माफ कीजिए मैं एक दोस्त की तरह आपकी मदद करना चाहता हूं—सिर्फ इसलिए कि आपको भी हंसती देखना चाहता हूं···' कुछ क्षणों में ही, सुनीता की शांत सुस्थिरता के सम्मुख कृष्णकांत का उन्माद ऐसे ही शांत हो गया था, जैसे भड़कते शोलों पर किसीने ठंडा पानी उड़ेल दिया हो··· किसी दाह को शांत करता-सा ठंडा पानी! बस, वह केवल चाहने लगा था कि वह सुनीता को हंसती देख सके···कई युवतियों को तोल चुकी उसकी आंखों में इतनी ईमानदारी-सी उभर आई कि सामने आईने में अपनी ही आंखों का प्रतिबिम्ब देखते वह हैरान रह गया, उसको अपनी आंखों के गुलाबी डोरे ऐसे कैसे उजले हो गए···!

'क्या कीजिएगा जानकर? फिर भी आपने पूछा है तो बता देती हूं···इंडिया में भुवाली सैनेटोरियम में टी० बी० का एक मरीज़ अपनी अंतिम सांसें गिन रहा है······टी० बी० की लास्ट स्टेज है। मेरे लौटने तक भी उसका बचना मुश्किल है··· बल्कि यह निश्चय है कि वह बचेगा नहीं, इसलिए आपकी शुभकामनाओं

का शुक्रिया। किन्तु मेरी नियति मे हंसी नही है, मिस्टर कांत··· आमू ही हैं···मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए। कम ऑन, लेट्स टॉक एवाउट समथिंग एल्स !'

मुनीता ने आमुओ से भीगी मुस्कान के साथ कॉफी का दूसरा प्याला कृष्णकांत की ओर बढाया···मुनीता के हाथ स्थिर थे, किन्तु उसके ही हाथ काप गए·· प्याला गिरा, चूर-चूर हो गया—'ओह ! आइ एम सो सॉरी !' वह प्याले के टूटे टुकडो को बटोरने के लिए झुका।

'मैं उठा लूगी ' ' मुनीता ने अपनी वर्फ-सी हथेलियो में उसका उष्ण हाथ बदी कर लिया था। चितवन से हथेलियो तक मुनीता ने शायद उसे एक ठडे पथराए एहसास से बाध भी लिया था·· मुनीता वैसी ही घुटने टेके बैठी रह गई थी·· उनके बीच का समय—हाथ, आखें, होंठ, सब कुछ, कुछ देर पथराया-सा रहा···'तो यह लडकी मृत्युशय्या पर पडे किसीके लिए, इतनी दूर बैठी जीवित लाश हुई जा रही है·· ओह !' कृष्णकात ने सहमा मुनीता, को आलिंगन में कम लिया—'मिस मुनीता···मैं इतजार करूगा कि आप कभी न कभी हम मकें···उस टी० वी० के मरीज़ की खातिर, या फिर मेरी खातिर !'

मुनीता ने स्वय को उस आलिंगन से छुडाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया···किन्तु जाने कैसी वर्जना-सी थी उसकी निष्प्रयासता मे कि कृष्णकात की बाहे स्वय ही शिथिल हो गई··· ...मुनीता को बाह से घेरकर ईज़ी-चेयर पर बैठाते, वह सचमुच अपराधी-सा हो उठा—'आइ एम सॉरी मिस मुनीता, रियली सॉरी टु नो सच सैड फैक्ट्स एबाउट यू !' उसका गला रुधने-सा था···और वह तेजी से सुनीता के कमरे से निकल आया था···फिर देर तक वह अपनी उन क्षणों की भावुकता पर झल्लाता रहा।

उसी मास, दो सप्ताह बाद, उसने लक्ष्य किया, मुनीता के एपार्टमेंट का दरवाज़ा लगातार बद है—तीन-चार दिन से। चौथे

ो गया है...' कृष्णकांत ने पाइप सुलगा ली। गहरे कश लेता वह सामने बैठी उस साधारण, सांवली युवती को अपलक देखने लगा था...प्रत्युत्तर में सुनीता की गहरी काली, पनीली-सी आंखें भी उसे निर्निमेष देखने लगी थीं—उनकी नमी गहरा उठी थी। किन्तु उसके स्निग्ध सांवले कपोलों पर कोई रक्ताभा झलकी न थी... एक रक्तहीनता-सी छाने लगी थी—'मिस्टर कांत! एक्सक्यूज़ मी! मेरे पास किसीको देने के लिए कुछ भी नहीं है।'

'आप...आप ले तो सकती हैं, यदि कोई कुछ देना चाहे...या लेने का भी स्कोप नहीं है?'

'मेरे पास किसी देन-लेन का कोई स्कोप नहीं है...मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए...' सुनीता की आंखें पथराने लगी थीं...किसी असह्य चोट से आहत-सी।

'आखिर बात क्या है, शायद आपका कोई और अफेयर है? आर यू इन लव विद समबडी? माफ कीजिए मैं एक दोस्त की तरह आपकी मदद करना चाहता हूं—सिर्फ इसलिए कि आपको भी हंसती देखना चाहता हूं...' कुछ क्षणों में ही, सुनीता की शांत सुस्थिरता के सम्मुख कृष्णकांत का उन्माद ऐसे ही शांत हो गया था, जैसे भड़कते शोलों पर किसीने ठंडा पानी उड़ेल दिया हो... किसी दाह को शांत करता-सा ठंडा पानी! बस, वह केवल चाहने लगा था कि वह सुनीता को हंसती देख सके...कई युवतियों को तोल चुकी उसकी आंखों में इतनी ईमानदारी-सी उभर आई कि सामने आईने में अपनी ही आंखों का प्रतिबिम्ब देखते वह हैरान रह गया, उसको अपनी आंखों के गुलाबी डोरे ऐसे कैसे उजले हो गए...!

'क्या कीजिएगा जानकर? फिर भी आपने पूछा है तो बता देती हूं...इंडिया में भुवाली सैनेटोरियम में टी० बी० का एक मरीज़ अपनी अंतिम सांसें गिन रहा है......टी० बी० की लास्ट स्टेज है। मेरे लौटने तक भी उसका बचना मुश्किल है... बल्कि यह निश्चय है कि वह बचेगा नहीं, इसलिए आपकी शुभकामनाओं

का शुक्रिया। किन्तु मेरी नियति में हंसी नहीं है, मिस्टर कांत··· आंसू ही हैं···मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए। कम ऑन, लेट्स टॉक एबाउट समथिंग एल्स !'

सुनीता ने आंसुओं से भीगी मुस्कान के साथ कॉफी का दूसरा प्याला कृष्णकांत की ओर बढ़ाया···सुनीता के हाथ स्थिर थे, किन्तु उसके ही हाथ कांप गए··प्याला गिरा, चूर-चूर हो गया—'ओह ! आइ एम सो सॉरी !' वह प्याले के टूटे टुकड़ों को बटोरने के लिए झुका।

'मैं उठा लूंगी···' सुनीता ने अपनी बर्फ-सी हथेलियों में उसका उष्ण हाथ बंदी कर लिया था। चितवन से हथेलियों तक सुनीता ने शायद उसे एक ठंडे पथराए एहसास में बांध भी लिया था·· सुनीता वैसी ही घुटने टेके बैठी रह गई थी · उनके बीच का समय—हाथ, आंखें, होंठ, सब कुछ, कुछ देर पथराया-सा रहा···'तो यह लड़की मृत्युशय्या पर पड़े किसीके लिए, इतनी दूर बैठी जीवित लाश हुई जा रही है···ओह !' कृष्णकांत ने सहसा सुनीता, को आलिंगन में कस लिया—'मिस सुनीता···मैं इंतज़ार करूंगा कि आप कभी न कभी हंस सकें···उस टी० बी० के मरीज़ की खातिर, या फिर मेरी खातिर !'

सुनीता ने स्वयं को उस आलिंगन से छुड़ाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया···किन्तु जाने कैसी वर्जना-सी थी उसकी निष्प्रयासता में कि कृष्णकांत की बांहें स्वयं ही शिथिल हो गईं ·· ...सुनीता को बांह से घेरकर ईज़ी-चेयर पर बैठाते, वह सचमुच अपराधी-सा हो उठा—'आइ एम सॉरी मिस सुनीता, रियली सॉरी टु नो सच सैड फैक्ट्स एबाउट यू !' उसका गला रुंधने-सा था·· और वह तेज़ी से सुनीता के कमरे से निकल आया था···फिर देर तक वह अपनी उन क्षणों की भावुकता पर झल्लाता रहा।

उसी मास, दो सप्ताह बाद, उसने लक्ष्य किया, सुनीता के एपार्टमेंट का दरवाज़ा लगातार बंद है—तीन-चार दिन से। चौथे

हो गया है···' कृष्णकांत ने पाइप सुलगा ली। गहरे कश लेता वह सामने बैठी उस साधारण, सांवली युवती को अपलक देखने लगा था·· प्रत्युत्तर में सुनीता की गहरी काली, पनीली-सी आंखें भी उसे निर्निमेष देखने लगी थीं—उनकी नमी गहरा उठी थी। किन्तु उसके स्निग्ध सांवले कपोलों पर कोई रक्ताभा झलकी न थी··· एक रक्तहीनता-सी छाने लगी थी—'मिस्टर कांत! एक्सक्यूज़ मी! मेरे पास किसीको देने के लिए कुछ भी नहीं है।'

'आप···आप ले तो सकती हैं, यदि कोई कुछ देना चाहे···या लेने का भी स्कोप नहीं है?'

'मेरे पास किसी देन-लेन का कोई स्कोप नहीं है···मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए···' सुनीता की आंखें पथराने लगी थीं···किसी असह्य चोट से आहत-सी।

'आखिर बात क्या है, शायद आपका कोई और अफेयर है? आर यू इन लव विद समबडी? माफ कीजिए मैं एक दोस्त की तरह आपकी मदद करना चाहता हूं—सिर्फ इसलिए कि आपको भी हंसती देखना चाहता हूं···' कुछ क्षणों में ही, सुनीता की शांत सुस्थिरता के सम्मुख कृष्णकांत का उन्माद ऐसे ही शांत हो गया था, जैसे भड़कते शोलों पर किसीने ठंडा पानी उड़ेल दिया हो··· किसी दाह को शांत करता-सा ठंडा पानी! बस, वह केवल चाहने लगा था कि वह सुनीता को हंसती देख सके···कई युवतियों को तोल चुकी उसकी आंखों में इतनी ईमानदारी-सी उभर आई कि सामने आईने में अपनी ही आंखों का प्रतिबिम्ब देखते वह हैरान रह गया, उसको अपनी आंखों के गुलाबी डोरे ऐसे कैसे उजले हो गए···!

'क्या कीजिएगा जानकर? फिर भी आपने पूछा है तो बता देती हूं···इंडिया में भुवाली सैनेटोरियम में टी० बी० का एक मरीज अपनी अंतिम सांसें गिन रहा है······टी० बी० की लास्ट स्टेज है। मेरे लौटने तक भी उसका बचना मुश्किल है··· बल्कि यह निश्चय है कि वह बचेगा नहीं, इसलिए आपकी शुभकामनाओं

का शुक्रिया। किन्तु मेरी नियति में हंसी नहीं है, मिस्टर कांत··· आंसू ही हैं···मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए। कम ऑन, लेट्स टॉक एबाउट समथिंग एल्स !'

सुनीता ने आंसुओं से भीगी मुस्कान के साथ कॉफी का दूसरा प्याला कृष्णकांत की ओर बढ़ाया···सुनीता के हाथ स्थिर थे, किन्तु उसके ही हाथ कांप गए··प्याला गिरा, चूर-चूर हो गया—'ओह ! आइ एम सो सॉरी !' वह प्याले के टूटे टुकड़ों को बटोरने के लिए झुका।

'मैं उठा लूंगी··' सुनीता ने अपनी बर्फ-सी हथेलियों में उसका उष्ण हाथ बंदी कर लिया था। चितवन से हथेलियों तक सुनीता ने शायद उसे एक ठंडे पथराए एहसास से बांध भी लिया था·· सुनीता वैसी ही घुटने टेके बैठी रह गई थी · उनके बीच का समय—हाथ, आंखें, होंठ, सब कुछ, कुछ देर पथराया-सा रहा····'तो यह लड़की मृत्युशय्या पर पड़े किसीके लिए, इतनी दूर बैठी जोगिन बनी हुई जा रही है·· ओह !' कृष्णकांत ने सहसा सुनीता को आलिंगन में कस लिया—'मिस सुनीता···मैं इंतजार करूंगा कि आप कभी न कभी हंस सकें···उस टी० बी० के मरीज़ की खातिर, या फिर मेरी खातिर !'

सुनीता ने स्वयं को उस आलिंगन से छुड़ाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया···किन्तु जाने कैसी वर्जना-सी थी उसकी निष्प्रयासता में कि कृष्णकांत की बाहें स्वयं ही शिथिल हो गईं··· ...सुनीता को बांह से घेरकर ईज़ी-चेयर पर बैठाते, वह सचमुच अपराधी-सा हो उठा—'आइ एम सॉरी मिस सुनीता, रियली सॉरी टु नो सच सैड फैक्ट्स एबाउट यू !' उसका गला रुंधने-सा था···और वह तेज़ी से सुनीता के कमरे से निकल आया था···फिर देर तक वह अपनी उन क्षणों की भावुकता पर झल्लाता रहा।

उसी मास, दो सप्ताह बाद, उसने लक्ष्य किया, सुनीता के एपार्टमेंट का दरवाज़ा लगातार बंद है—तीन-चार दिन से। चौथे

दिन उससे न रहा गया···वह फिर शनिवार की ही एक रिक्त शाम थी···जूली उससे उन्मुक्तता से खेलकर गई थी···किन्तु उस सारे खुले खेल को खेलता, वह सुनीता के बंद दरवाज़ों की सोचता रहा था—'बॉय, चियर्स, सी यू अगेन।' कहती जूली सहसा मुड़ी थी···'आइ थिंक वी शैल गेट मैरीड नाउ डियर!'

'फिर तुम्हारे मैरिलिन मनरो बनने का क्या होगा?' कृष्णकांत ने खेल की ही शरारत से हंसकर पूछा। 'तुमसे शादी करके भी मैं मैरिलिन मनरो बन सकती हूं। तुम मुझे रोकोगे क्या?···रोक सकते हो क्या?'

'बिलकुल रोकूंगा। यू नो आइ एम एन इंडियन विद इंडियन इन्हिबिशन्स!' कृष्णकांत ने जूली को आलिंगन में कसते हुए छेड़ा।

जूली छिटककर अलग हो गई—'एंड कीप इट इन माइंड दैट आइ एम एन अमेरिकन! बांधकर रखना है तो उस काली लड़की को चुनो! वेल बॉय!' जूली छह इंच के हील्स पर अपने 34-24-36 अनुपात के मोहक उभारों को लचकाती चली गई।

कृष्णकांत उठा, काफी रात हो गई थी···फिर भी स्वयं को रोक नहीं सका···जूली की यौवन और सौन्दर्य से भरपूर देह में डूबने के पश्चात् भी उसका मन आज बिना भीगा दूर खड़ा रह गया था··· सुनीता की सांवली, साधारण अनुपातों वाली काया को तोलता रहा था···यौवन और सौन्दर्य की कोई भी तो असाधारणता नहीं है सुनीता के पास···! किन्तु पता नहीं कैसे, कब वह जूली की तुलना में कृष्णकांत पर हावी हो उठी थी!

कृष्णकांत ने घड़ी देखी, रात के ग्यारह बज रहे थे। बाहर बर्फ गिरने लगी थी···वह यंत्रचालित-सा नहीं, मंत्रविद्ध-सा उठा··· सुनीता का बंद दरवाज़ा खटखटाया···'आइ एम सॉरी सुनीता! आप ठीक तो हैं?'

उत्तर में दरवाज़ा खोलती, बिखरे केश, ठंडी देह और रक्तहीन मुख लिए सुनीता, कृष्णकांत की बांहों में ढह गई थी। 'क्या

हुआ ?' उसने सुनीता को गोद मे उठाकर बेड पर लिटा दिया। अपने कमरे से ब्राडी लाकर पिलाई। सुनीता मूच्छितप्राय थी···वह सुनीता की बर्फ होती हथेलियो पर भी ब्राडी मल रहा था—'डाक्टर को बुलाना चाहिए क्या ?'

अचेत-सी सुनीता ने तकिए के नीचे से एक पत्र निकालकर उसकी ओर बढा दिया। पत्र सुनीता की एक सहेली का था, लिखा था—'सुनीता, कैसे तुम्हे बताऊ कि जिसका तुम्हे या जिसे तुम्हारा इतज़ार था, वह नहीं रहा···अमर की मृत्यु हो गई · तुम्हे तसल्ली देने के लिए मेरे पास शब्द नही हैं···फिर भी अपने आपको सभालना —माया।'

सुनीता आखे मूदे निश्चल हो गई थी···पत्र पकडे कृष्णकात भी पत्थर हो गया था···

सोमवार को कृष्णकात ने देखा—सुनीता एपार्टमेंट से निकल रही थी—सदा की भाति कॉलेज के लिए तैयार होकर। काले केश सादे जूडे मे बंधे थे। सदा की भाति सफेद साड़ी मे वह स्निग्ध सावली देह लिपटी थी।·· पता नहीं, कोई भी प्रदर्शन क्यो नहीं, इस लड़की मे—न सुख का, न दुख का, न किसी कामना का··? हां, सुनीता का मुख शनिवार की रात जैसा ही रक्तहीन था··· पल-भर के लिए कृष्णकात एक अजीब एहसास से काप गया—'सफेद साडी में लिपटी यह युवती क्या कफन ओढे रहती है···?' वह बढ़ा—'लेट अस गो टुगेदर टुडे !' सुनीता उसके साथ चुपचाप चलने लगी थी, सहमति से।

'ऐसे तो यह मर जाएगी···आइ मस्ट सेव हर···' और कृष्णकात की हर शाम सुनीता के साथ बीतने लगी थी···जैसे सुनीता का समय भी उसके साथ चलने लगा था चुपचाप सहमति से। किन्तु सुनीता के चेहरे का रंग नहीं लौट रहा था···कृष्णकांत उसके रक्तहीन मुख पर रक्ताभा लौटाने के लिए आतुर हो उठा— 'सुनीता, मे आइ प्रपोज़ टु यू·· मुझे स्वीकार कर लो सुनीता,

त

व यू।' कॉफी की प्याली बढ़ाती सुनीता ने कोई विरोध
या, चुपचाप एक बार फिर कृष्णकांत की उष्ण भुजाओं में
—'इट्'ज़ माइ गुड फारचून !' कहती…

ीमून के लिए कृष्णकांत सुनीता को लेकर स्विट्ज़रलैंड चला
…गरमियां आ गई थीं…और वह सुनीता को उस माहौल से
भी लेना चाहता था, कुछ समय के लिए—सुनीता की ओर
ोई विरोध नहीं था—न तन का, न मन का…एक मधुर
र्पण लिए वह कृष्णकांत के पार्श्व से सटी रहने लगी…हंसने-
कराने भी लगी…सफेद साड़ियां छोड़कर कलरफुल साड़ियां
हनने लगी…केशों को विभिन्न स्टाइल के जूड़ों में बांधने लगी…
ष्णकांत के कहने पर अपनी गहरी काली आंखों को मस्कारा की
ार देने लगी…गुलाबी लिपस्टिक भी लगाने लगी…दक्षिण की
कांजीवरम् या बंगाल की जरी बॉर्डर की तांत की साड़ियां सुनीता
पर विशेष रूप से सजतीं…साड़ी से मैच करता कोई फूल कृष्णकांत
सुनीता के जुड़े में ज़रूर टांक देता…

किन्तु…किन्तु तीन मास के हनीमून के पश्चात् भी पार्श्व में
अपनी बांहों में समाई सुनीता को देखते, कृष्णकांत को यही लगता
कि सुनीता उसकी बांहों से परे है…प्रकट में सुनीता के तन-मन को
वह पा चुका था, जीत चुका था—किन्तु अप्रकट में उसे लगता,
सुनीता अपराजिता ही है—'अपराजिता !'

वर्ष बीतते न बीतते सुनीता मां बन गई…मैटर्निटी होम से
सुनीता को वापस लाते कृष्णकांत ने एपार्टमेंट में प्रवेश करते ही सुनीता
को, उस नन्हीं शिशु-देह सहित बांहों में भर लिया…वह सुनीता को
और उस नन्हीं जान को चूमने लगा था बार-बार…'डोंट गेट सो
एक्साइटेड कांत ! क्या हो गया है तुम्हें !' सुनीता बच्ची को बेड
पर लिटाकर कृष्णकांत से लिपट गई। लिपटी रही…एक सुदीर्घ
आलिंगन में देर तक…। 'कुछ परेशान हो ? क्या बात है ?

'कुछ गलती हो गई मुझसे ? या कोई कमी रह गई ?' कृष्णकांत को आलिंगन में कसे सुनीता पूछ रही थी।

कृष्णकांत ने भरपूर नजर से सुनीता को देखा—मातृत्व की आभा से उस सांवले चेहरे की रक्ताभा पूरी लौट आई थी'''सुनीता भरपूर उसकी बाहों में भी थी—पूर्ण समर्पिता !

'हम अपनी बच्ची का नाम रखेंगे—अपराजिता ! क्यों डियर ?' कहता कृष्णकांत सहसा कह बैठा—'वैसे, यह नाम तुम्हारा होना चाहिए था'''!'

अर्थ

दीवार-घड़ी की टिक-टिक में आसन्न मृत्यु की पगचाप सुनती कुमुद खामोश थी। मृत्यु कब दबे पांव सेठजी की पलकों पर उतर आएगी—केवल वह क्षण निश्चित नहीं था। किन्तु मृत्यु आएगी—यह निश्चित था। सिविल-सर्जन तक जवाब दे चुके थे कि सेठजी अब बचेंगे नहीं।

मृत्यु ! एक बेहद ठंडी झुरझुरी कुमुद की शिराओं में दौड़ गई। क्या होती है यह मृत्यु ?—एक खामोशी···जब कोई बोलता हुआ एकदम चुप हो जाता है। या एक शून्य, जब कोई होता हुआ नहीं होता है। कुमुद मां की खांसी को खामोश होते देख चुकी थी, पिता के न होने के शून्य को भी झेल चुकी थी।

सेठजी भी अब नहीं होंगे। सेठजी···? कुमुद की शिराओं में दौड़ती वह ठंडी भुरभुरी रुक गई। सेठजी—कुमुद के पति-पुरुष ! पति तो सेठजी कुमुद के निश्चय ही रहे हैं। पवित्र अग्नि के चारों ओर ली हुई उन सात परिक्रमाओं को कुमुद झुठला नहीं पाई, झुठला नहीं सकी। लेकिन पुरुष···? कुमुद ने अपनी आंखों को दीवार-घड़ी पर केन्द्रित किया। भीतर से एक चीत्कार उठकर होंठों तक आया—पुरुष···कुमुद की शिराओं से पुकार बनकर फूटता—पुरुष।···कुमुद की आंखों का स्वप्न-पुरुष ! कुमुद के तन का ही नहीं, मन का संगी—पुरुष···! ऐसे पुरुष तो सेठजी नहीं ही थे कुमुद के निकट। कुमुद एकाकिनी थी।

कुमुद रानी की पलकें गिरना भूल गई। भीतर से उठते उस चीत्कार को रोकते कुमुद ने अपने कांपते होंठ कसकर भींच लिए। तीस वर्ष की उसकी कोमल, सुन्दर देह में अभी वह आग ठंडी कहां

हुई थी जो कुमुद के ही शब्दों में, देह की नहीं मन की आग थी···। एक आग, जो ठंडी नहीं हुई थी, कुमुद के तन-मन को दहकाती रही थी···। एक प्यास जो बुझी नहीं थी, कुमुद के प्राणों को चिटकाती रही थी। कुमुद सोचती, सेठजी तो इस आग या इस प्यास का अर्थ भी नहीं समझ पाए थे।

कुमुद रानी ने आखें मूद ली। उस आग या उस प्यास के जाने कितने चित्र कुमुद की बन्द पलकों में कौंधने लगे थे।

एम० ए० में थी कुमुद, जब उसकी सपनों में डूबी-सी, काली-कजरारी आखो को लक्ष्य कर किसीने अचानक कहा था :

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान,
वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान।

वह वीरेन्द्र था—कुमुद की काली-कजरारी आखों की अभ्यर्थना करता वीरेन्द्र ! वीरेन्द्र कुमुद का सहपाठी था, पड़ोसी भी। वीरेन्द्र की अभ्यर्थना से कुमुद के सपने झंकृत हो उठे। कुमुद ने पाया कि उसकी काली-कजरारी आंखो के सपनो को अर्थ मिल गया है··· यही अर्थ तो कुमुद ढूंढ़ने लगी थी, ढूढ रही थी।

कुमुद मामा-मामी के साथ रहती थी। मामा रेलवे में मामूली क्लर्क थे। अतः कुमुद का सारा परिवेश मामूली था। उस मामूली परिवेश में वह सुन्दर आंखों वाली लड़की जाने क्या सुन्दर और कोमल ढूंढने लगी थी। कभी वह सोचती, शरद के नीले आकाश में उड़ा जाता यह शुभ्र मेघ-खंड उसके आगन में उतर आए तो ···! कभी वह चाहने लगती, कहीं से कोई रंग बरसे कि उसकी तन की चुनरी भीग जाए···कहीं से कोई गन्ध उड़े कि उसके मन का एकान्त महक जाए !

मामी ने आंगन में तरकारियां उगा रखी थी, बैंगन, कद्दू और करेले। जब घर में उगी तरकारियों की सब्जी बनती तो मामी बार-बार कुमुद से कहतीं—'देख, आज पूरे दस आने बचे हैं और सब्जी भी कित्ती स्वादिष्ट बनी है ! यही चीज बाजार में लेने जाओ तो···।' मामी वाक्य अधूरा छोड़ देती और कुमुद सोचती रह

जाती। क्या इन कद्दू और करेलों की जगह गुलाव-गेंदा नहीं उगाए जा सकते? कुमुद ने मामी से अपनी वात कही तो वे हंस पड़ीं—'अरी विटौनी, भला गुलाव-गेंदा से क्या फायदा? तरकारी में तो पैसे वचे हैं!'

लेकिन कुमुद ने मामी की आंख बचाकर एक गुलाब की कलम रोप दी। और जव उस पौधे में फूल खिले तो कुमुद ने चाहा कि वह मामी को उन फूलों का अर्थ समझा सके। लेकिन मामी भन्ना रही थीं—'ई गुलाव मरा किस काम का! इत्ती जगह में तो भिंडी वो लेते। तेरे मामा को भिंडी पसन्द है, और यहां मिले भी नहीं है।' लेकिन कुमुद की आंखों को सजल होते देख मामी चुप हो गई। 'अच्छा, अच्छा रहने दे विटौनी, रो मत। गुलाव चोटी में लगा लीजियो।' मामी को क्या पता था कि विटौनी उन गुलावों को देखती किन सपनों में खोकर रह जाती है···। कुमुद के उन सपनों के राजकुमार के हाथों में गुलाव ही गुलाव होते थे···। वह राजकुमार कुमुद के केशों में गुलाव गूंथता रह जाता था कि सवेरा हो जाता था और मामी कुमुद को सपनों से उठाती कहती होती थी—'विटौनी उठ मैया, कालिज नहीं जाना है।'

कुमुद मेधाविनी थी। उसकी उन काली-कजरारी आंखों में बुद्धि की दीप्ति भी थी। इस दीप्ति ने कुमुद के सपनों को और जगमगा दिया था। कुमुद की तरुण आंखों के वे सपने उन सितारों से जगमग थे जो अभावों की काली रातों में और जगमगाते हैं! वीरेन्द्र उन सितारों के वीच चांद वनकर चमक उठा था। और कुमुद देख रही थी कि अव उसके केशों में फूल ही नहीं गुथेंगे, वीरेन्द्र उसकी मांग को सितारों से भी भर देगा। वीरेन्द्र सम्पन्न घर का एकलौता वेटा था। वंगला था, कार थी। वीरेन्द्र ने कुमुद से वार-वार कहा कि वह कुमुद से प्रेम करता है···प्रेम! प्यार!! कुमुद को लगा··· शरद के नीले आकाश में उड़ा जाता वह शुभ्र मेघखंड सच में उसके आंगन में उतर आया है! कोई रंग वरस गया है और उसके तन की चुनरी भीग गई है···। कोई गंध उड़ आई है और उसके मन

का एकान्त महक-महक उठा है !

तभी कुमुद पर शीतला का प्रकोप हुआ। ज्वर और पीड़ा की अचेत अवस्था में भी वह बार-बार चौंककर देखती रही—वीरेन्द्र आया···? मामी कुमुद की इस पीडा को भी समझती थीं। शीतला के शान्त होने पर नीम और हल्दी का उबटना कुमुद को लगाती मामी आंहत-सी कह रही थीं—'देखा बिटिया, वीरू एको दिन देखने नाहीं आया। अरे मरा सोचता होयगा, शीतला निकली है, कहीं कुमुद की आंख-नाक न बिगड जावे···और तू उसके ध्यान में मरी जाती है। मान न मान बिटौनी, ई सब तेरे चन्दा से रूप के आसिक हैं और क्या·· भगवान् ना करे, कहीं आंख-नाक बिगड जाती तो···चल खैर मना, तेरा रूप नाहीं बिगडा।' मामी ने पूरे महीना भर नीम-हल्दी का उबटना लगाकर कुमुद का रूप और निखार दिया। निस्सन्तान मामी सच में कुमुद को प्यार करती थीं।

अपने उस निखरे रूप को दर्पण में देखती कुमुद की आंखों में आंसू भरे आ रहे थे···। क्या प्रेम इतना अल्पजीवी होता है ? क्या मोह इतना भ्रामक होता है ? उसने तो अपने प्रेम के चिरजीवी होने की कामना की थी···उसे विश्वास था कि यह मोह दीर्घजीवी होगा। किन्तु कहा उड गया वह मेघखंड ? कहा खो गए वे रस और गंध जिनका रूप यथार्थ की विरूपता के एक आक्रमण का भी सामना नहीं कर सका।

नीम-हल्दी के उबटन से कुमुद का रूप, सच में, और निखर आया था। स्वस्थ होकर कॉलेज गई तो सुना—'अरे ! तुम तो और सुन्दर हो गई हो।' सुन्दर ? क्या वीरेन्द्र का आकर्षण केवल रूप का आकर्षण था ? कुमुद ने आखें फेर लीं—'मेरे सामने से हट जाओ वीरेन्द्र।'

'अच्छा साहब हटे जाते हैं।' वीरेन्द्र तो हट गया किन्तु कुमुद उसे न मन से हटा सकी, न आंखों से। जिस मेघखंड के साथ कुमुद ने किरणों के रथ पर चढ़कर आकाश के उन्मुक्त नीले विस्तार में

उड़ जाने के सपने देखे थे, वह केवल भाप बनकर उड़ गया था···और कुमुद केवल आंसुओं से भीगकर रह गई थी। भाप को पकड़ने के प्रयास में भी तो हाथ भीगकर रह जाते हैं···मेघखंड या केवल भाप···भाप···कुमुद क्या माने इसे?

तभी शहर के सबसे धनी सेठ बिहारीलाल के घर से कुमुद के लिए रिश्ता आया। सेठजी की पत्नी का स्थान रिक्त था। सेठजी ने कुमुद को कॉलेज-डिबेट में बोलते सुना था, देखा था। मामा इस रिश्ते के नाम पर उछल पड़े। जिस निर्धनता का अभिशाप वे जीवन भर झेलते रहे थे, उससे मुक्ति का उपाय उनके द्वार पर आ खड़ा हुआ था। कुमुद ने विरोध किया तो चीखे—'सुन ले बिटौनी? ये रिश्ता तो तुझे करना ही पड़ेगा। नहीं तो काटकर फेंक दूंगा। मां-बाप तो पैदा कर के मर गए, पालना हमें पड़ा।' काट दिया जाता तो कुमुद सह भी लेती, लेकिन माता-पिता के उस रक्त का अपमान असह्य था जो उसकी रगों में जीवन बनकर दौड़ रहा था। चुका देगी वह पालने-पोसने का सारा ऋण, ज़रूर चुका देगी!

मामी कुमुद का दुख समझती थीं। लेकिन मामी ने भी समझाया—'बिटौनी ये पियार-वियार का चक्कर छोड़···हमने तो तेरे मामा से वियाह बाद ही पियार करना सीखा···तू भी सीख लेगी···रिश्ता मान ले। राजा के घर जाएगी तो रानी बन के रहेगी।' किरणों के रथ के स्थान पर कुमुद के सामने ब्यूक कार आ खड़ी हुई थी।

सुहाग की रात जड़ाऊ जेवरों और गुलाबी बनारसी साड़ी में सजी कुमुद ड्रेसिंग टेबुल के आदमकद दर्पण के सामने आ खड़ी हुई। वह सुन्दरी है, कुमुद जानती थी। लेकिन उसमें इतना लावण्य है, यह वह कहां जानती थी? जड़ाऊ जेवरों की जगमग से अधिक जगमगाहट उसके उस मुख पर थी, जिसे दर्पण में देखती वह पत्थर हुई जा रही थी। उसके उस जगमगाते मुख के पार्श्व में बार-बार एक मुख उभर रहा जा—बीरेन्द्र का। और उस मुख के होंठों पर थीं

वे ही पक्तिया···'अनियारे दीरघ दृगनि···।'

पत्थर होते, कुमुद ने वे 'अनियारे दीरघ दृग' मूद लिए। फिर चौंककर आखें खोली तो पार्श्व मे एक और मुख था—सेठजी का। सेठजी जाने कब कुमुद के पार्श्व मे जा खडे हुए थे। कुमुद ने देखा, वीरेन्द्र के तरुण मुख की तुलना मे यह मुख कितना प्रौढ़ था···। वीरेन्द्र की स्वप्निल आखो की तुलना मे ये आखें कितनी हिसाबी। घनी भौहों और होंठो ने सेठजी के मुख को एक गरिमा-सी दे दी थी, किन्तु वीरेन्द्र के सजीले मुख की तुलना मे यह गरिमा भी कितनी कठोर थी! हा, सेठजी के मुख पर एक आभिजात्य है, कुमुद को मानना पड़ा। इस दामी आभिजात्य के अतिरिक्त इनके पास है ही क्या? कुमुद भीतर ही भीतर तन गई।

सेठजी ने कुमुद के चिबुक को धीरे से उठाया—'कितनी सुन्दर हैं आप! सच इतना रूप मैंने और कहीं नही देखा!' सेठजी हसे··· यह हसी नहीं, केवल दन-पक्ति ही उजली है। 'डेंचर' हजार रुपयो से कम का नही होगा···इनका क्या, ये बत्तीसी के साथ बीबी भी खरीद सकते है—कुमुद तनती जा रही थी।

'मेरी ओर देखिए।' सेठजी ने कुमुद का मुख हथेलियों मे भर लिया था। कुमुद ने दृष्टि उठाई, एक प्रज्वलित दृष्टि। उस दृष्टि में नववधू की लाज नही, एक आग थी। सेठजी हतप्रभ हो उठे—'क्या बात है कुमुद रानी? आपकी आखों मे यह सजा क्यो है? क्या अपराध किया है मैंने?'

'सजा तो आपने दी है मुझे।' कुमुद ने कहना चाहा, कहा नहीं। होंठ कसे उसी प्रज्वलित दृष्टि से सेठजी को देखती रही—अपलक।

'शायद आपकी तबीयत ठीक नही है। आराम कीजिए। अब आज मैं आपको नही छुऊंगा। हा, कल का वादा नही कर सकता। लोभी टाइप का आदमी हूं और आपकी इस सुन्दर देह का भारी लोभ जाग उठा है मेरे मन में।' सेठजी फिर हसे। बत्तीसी फिर कौंधी। सेठजी के होंठों से 'मन' शब्द कैसा लगता है···। ये देह का अर्थ

समझते होंगे, मन का क्या समझेंगे, समझ भी नहीं सकते···सुहाग-सेज पर उस रात कुमुद रानी का तन अछूता रह आया···। और मन को तो अछूता रहना ही है। प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न सेठजी के समीप लेटी कुमुद सारी रात करवटें बदलती रह गई।

सारी रात कुमुद रानी की देह में वे गुलाब चुभते रहे जो उसकी सुहाग-सेज पर बिखरे थे। किसीने बताया था कि सेठजी को गुलाबों का शौक है। एक बड़ा भारी 'रोज़ गार्डन' है उनका, जिसके गुलाब हर साल इनाम जीतते हैं। शायद वे ही इनाम जीतने वाले गुलाब सुहाग-सेज पर बिखरे थे···। ये गुलाब वे नहीं थे, जिनके सपने देखती कुमुद की कुआंरी आंखों में सवेरा हो जाता था। सेठजी ही वह सपनों के राजकुमार कहां थे? वह राजकुमार तो शायद वीरेन्द्र ही था। सेठजी ने कुमुद रानी को सोने का पिंजरा दिया है··· चुगने को हीरे-मोती देंगे···। किन्तु वह रंग और गंध नहीं ही दे सकेंगे जो कुमुद की प्यास थी, पुकार थी, कामना थी। वह मेघ-खंड···गुलाब···रंग···गंध···कुमुद रानी ने जाने कब थककर पलकें मूद लीं।

सुहाग की रात का सवेरा हुआ। कुमुद रानी के अछूते वदन पर एक कीमती दुशाला ढंका था। किसीने बड़े जतन से, सोई कुमुद की देह पर दुशाला उढ़ा दिया था। सेठजी ने ही उढ़ाया होगा—कुमुद और तन गई। उसे लग रहा था, एक निर्मम खेल का आरम्भ हो चुका है और इस खेल में वह एक खिलौने से अधिक कुछ नहीं है। सेठजी दो बार और भी तो यह खेल खेल चुके हैं। कुमुद सेठजी की तीसरी ब्याहता थी। सेठजी पैंतालीस वर्षों की सभी ऋतुएं देख चुके थे, कुमुद ने केवल चौबीस वसन्त देखे थे। चौबीस और पैंतालीस, वसन्त और पतझड़···। काश, इस कीमती दुशाले के स्थान पर केवल एक मुग्ध आलिंगन होता—वीरेन्द्र का। सारी रात पत्थर रही आई कुमुद सिसकने लगी थी। अपने मन की सुहाग-सेज पर वह सदा अकेली रहेगी, निश्चित था।

विवाह की पहली वर्ष-गांठ पर सेठजी ने कुन्दन का कंठहार

कुमुद रानी को पहनाते कहा—'शायद मैं आपसे प्रेम करने लगा हूं कुमुद रानी।'

कुमुद की सुडौल ग्रीवा वंकिम हो गई—'प्रेम ! आप प्रेम का अर्थ समझते हैं ?' कुमुद की दृष्टि फिर प्रज्वलित हो उठी थी।

किन्तु आज सेठजी हतप्रभ नहीं हुए। कुमुद रानी की आंखों पर *झूल आई लट को समेटते उन आंखों को चूम लिया—'हां शायद मैं* प्रेम का अर्थ नहीं समझता। समझूं भी कैसे ? आपकी तरह पढ़ा-लिखा नहीं। आप साहित्य में एम० ए० हैं। मैं तो मैट्रिक भी पास नहीं कर सका। और जिस लेन-देन, सौदेबाजी की दुनिया में मैं रहता हूं, वहां कुछ भी सोचने-समझने की फुरसत कहां है ? लेकिन क्या यह प्यार नहीं है कि मैं आपके बिना नहीं रह सकता। आपको करीब पाना चाहता हूं। आपके करीब रहना चाहता हूं ···।' सेठजी ने एक दृढ़ आलिंगन में कुमुद को समेट लिया था।

'आपको गुलाब बहुत पसन्द हैं न ! देखिए इस कुन्दन के कण्ठहार में मैंने मोती-मानिक के गुलाब गढ़वा दिए हैं। मेरे ये गुलाब पसन्द आए ?' सेठजी का स्वर आर्द्र-सा था। लेकिन कुमुद न उस आलिंगन से पिघली, न उस स्वर से। सेठजी मोती-मानिक के गुलाब गढ़वा सकते हैं। किसी क्यारी में अनायास खिल आए गुलाब का अर्थ क्या समझेंगे ? 'क्यारी में गुलाब खिलाए कहां जाते हैं, खिल जाते हैं !' कुमुद काटना चाहती।

सेठजी को देखती, कुमुद रानी की दृष्टि बार-बार प्रज्वलित हो *उठती। सेठजी उस दृष्टि को चुम्बनों में झेल जाते*—'क्या आप मुझसे प्रेम नहीं कर सकतीं ?'

कुमुद रानी की सुडौल ग्रीवा फिर वंकिम हो उठती—'प्रेम किया नहीं जाता, हो जाता है ?' क्यारी में गुलाब खिलाए नहीं जाते, खिल जाते हैं ··सोचती कुमुद की प्रज्वलित दृष्टि में वे गुलाब कौंधने रह जाते···

'नहीं जानता कि प्रेम किया नहीं जाता, हो जाता है। मैं बड़ी रानी जी से प्रेम करता था। फिर जब वे न रहीं तो मंझली रानी

से प्रेम करने लगा। भगवान् की इच्छा से वे भी नहीं रहीं तो प्रेम के लिए भटकता रहा। जब तक आपको नहीं पा लिया···और अब, कुमुद रानी, विश्वास मानिए मैं आपसे प्रेम करता हूं!' सेठजी कुमुद पर झुक जाते।

प्रेम···प्यार··· क्या है यह? रूप-तारुण्य···देह···मन···यह सब कुछ, या यह सब कुछ भी नहीं·· सेठजी के लिए यह 'प्रेम' शायद कुमुद की सुन्दर देह है।···वीरेन्द्र के लिए यह कुमुद के रूप का आकर्षण था···और स्वयं कुमुद के लिए···? प्रेम शायद एक भावना है·· एक स्पन्दन·· देह और मन की एकात्मता में गुंथा गुलाब··· तन की चुनरी को भिगो देने वाला रंग···मन के एकान्त को महका देने वाली गंध···और किसी रंग, किसी गंध के लिए कुमुद रानी के प्राणों की छटपटाहट तीव्र हो उठती···सेठजी के प्रेम के अर्थ को कुमुद स्वीकार नहीं कर सकती थी। वह मोती-मानिक के गुलाबों वाले उस कंठहार को उतारकर फेंक देती और मखमली शैया पर लोटती प्रेम का अर्थ ढूंढ़ा करती।

सेठजी का मुंह लगा ड्राइवर हनुमान कहता—'हलफ से कहत हौं रानी मां! हमरे सेठजी अस्सल आदमी हैं, बिलकुल अस्सल! जब कमला रानी के भगवान उठाय लिहिन तो सेठजी बौराय गए। एक दिन हमसे बोले—चलो हनुमान, आज लच्छोबाई के इहां चलो। लच्छोबाई तो सेठजी का देख कै निहाल हो गई। लेकिन हमार सेठजी मुजरा सुनि कै उठि आए। हलफ से कहत हौं, हमार सेठजी पतुरिया के पलंग पर कबहु नाहीं चढ़ें। बिलायती-मंगाय-मंगाय के हाकिम-हुक्काम के, दोस्तन के पिलावत रहे, मुदा खुद मुंह जुठार के छोड़ दिया···अरे, हमार सेठजी तो साधू आदमी हैं साधू···'

'साधू?' कुमुद का सर्वांग व्यंग्य से झनझना जाता। कुमुद की देह के लोभ में आकंठ डूबे सेठजी साधू हैं? दो पत्नियों के बाद पैंतालीस वर्ष की आयु में तीसरी युवती पत्नी ले आने वाले सेठजी साधू हैं···?

हनुमान कहता—'हमरे सेठजी की बत्तीसी बिलकुल अस्सल है।

रोज नीम की दातौन जो करत हैं। बड़ी-बड़ी महफिल से बिना पिए उठ आवत हैं और आध सेर मलाईदार दूध पी कै सो जावत हैं। नीम की दतौन और मलाईदार दूध हमरे सेठजी को जरूर चाही। अउर अब रानी मां, जब से आप आई हैं, सेठजी मगन रहे लागे हैं' आप पर जान छिड़कत हैं हमार सेठजी, हलफ से कहत हौं...।'

सेठजी की बत्तीसी असली है, कुमुद जान चुकी थी। वह यह भी जान चुकी थी कि समय की धार पर चढ़ा सेठजी का पौरुष कुठित *नहीं हुआ था। लेकिन देह के पौरुष से क्या होता है...? मन को* क्या इस पौरुष से जीता जा सकता है... ? नहीं न ? सेठजी की भुजाओं में पराजित कुमुद, मन की अपराजेयता को झेलती काठ बनी रहती है। काश, यह मन हार पाता।

'आखिर आप मुझसे नाराज क्यों रहती हैं कुमुद रानी ? क्या दोष है मुझमें ? आपको ब्याह कर लाया हूं। आपसे प्रेम करता हूं। आपको सब कुछ देना चाहता हूं। शायद मुझसे इसीलिए नाराज है कि मैंने पैसे से आपको खरीदा है। माना, पैसा मेरे पास है और बहुत है। और मैंने कहा न, मैं लोभी टाइप का आदमी हूं। इस पैसे का लोभ भी नहीं त्याग सकता जैसे आपका लोभ नहीं त्याग सका...' सेठजी दुहराते रहते। कुमुद काठ बनी सुनती रहती...। जब-जब उसकी सुडौल ग्रीवा बंकिम हो उठती है। ये प्रेम का अर्थ भी समझते हैं... ? क्या शरत्चन्द्र के 'देवदास' का अर्थ सेठजी को समझाया भी जा सकता है... ?

'मैं किसी तरह आपको प्रसन्न कर सकूं तो अपने आपको धन्य समझूंगा।' सेठजी कहते—'आप ऊबी-सी रहती हैं, क्यों नहीं और पढ़ती।'

'एम० ए० तो कर चुकी, अब और क्या पढ़ूंगी ? और फिर जितना पढ़ा है उतना ही एक भार हो गया है, और पढ़कर क्या होगा ?' कुमुद और उदास हो जाती।

'तब आप संगीत सीखिए। कितना मीठा कंठ है आपका !

गाएंगी तो रस बरसेगा।' सेठजी शायद लच्छोजान की सोच रहे हैं, कुमुद रानी ने सोचा।

लेकिन संगीत ट्यूटर के रूप में जब शरद सामने आ खड़े हुए तो कुमुद को प्रथम बार लगा कि सेठजी वास्तव में कुमुद की प्रसन्नता चाहते हैं···। शायद सेठ हृदयहीन नहीं···। किन्तु 'हृदय' शब्द से सेठजी को जोड़ना कुमुद को चुभने लगा।

सचमुच बड़ा मीठा कंठ था कुमुद का···। भैरवी का आलाप लेते सचमुच रस बरसने लगा था···! 'मैंने सैकड़ों को ट्यूशन दिया है, लेकिन आप जैसा स्वर और स्वरज्ञान कहीं नहीं पाया···' शरद कह रहे थे।

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' गाती कुमुद तन्मय हो उठी थी। तानपूरे को झंकृत करती उंगलियों की झंकृति सिहरन बनकर सारी देह में दौड़ रही थी···। अधखुली आंखों से देखा, शरद मुग्ध से उसे देख रहे थे···। इस बार गुलाब स्वर की लहरियों में बह आए थे···। भैरवी और मालकोस की लहरों में बहते गुलाब···! वही रस बरस रहा था जिसकी कुमुद को प्यास थी···। वही गंध उड़ रही थी जिसकी कुमुद को प्रतीक्षा थी! शरद की अधखुली तन्मय आंखों में उसी नील आकाश का अन्तहीन विस्तार था···। वह शुभ्र मेघखंड भी था···। किरणों का रथ भी! 'रानी साहिबा, क्षमा करें मुझे, मैं आपसे प्यार करता हूं···!' शरद की अधखुली मुग्ध आंखों में कुमुद का प्रतिबिम्ब झलक आया था। कुमुद उन आंखों में अपना प्रतिबिम्ब देखती बेसुध हो रही थी···। उसकी अपनी आंखों में भी तो शरद प्रतिबिम्बित हो उठे थे।

आवेश के दुर्बल क्षणों में कुमुद का सिर अब शरद के कन्धों पर टिक गया, वह जान न पाई···। चांद को देखकर लहरों को किनारे का ध्यान कहां रहता है···? कोई उससे पूछता तो वह निस्संकोच कहती···यह ज्वार भी तो एक मजबूरी होता है।

'कुमुद रानी!' सेठजी का गम्भीर कंठ गरजा—'होश में आइए।'

'मैं पूरी तरह होश में हूं,' कहती कुमुद ने शरद के कन्धे से सिर

उठा लिया। किन्तु सटकर खड़ी रही आई। सेठजी की दहकती आंखों में दृष्टि मिलाती वह तनकर खड़ी थी।

'जानती हैं, मैं इसी क्षण आपको आपके इस आशिक के साथ सड़क पर फेंक सकता हूं !' सेठजी आवेश में कांप रहे थे। उनके हाथ में चांदी की मूठवाली छड़ी भी कांप रही थी।

'और आप कर भी क्या सकते हैं ? इतना ही न। लेकिन आप क्यों कष्ट करते हैं। मैं स्वयं ही चली जाती हूं।' कुमुद ने शरद का हाथ पकड़ लिया था, चलने लगी थी।

सेठजी ने कुमुद के शरद को थामे हाथ पर छड़ी से प्रहार किया। शरद को खींचकर कमरे से बाहर करते, दरवाजा बन्द कर दिया। तभी कुमुद अकेली खड़ी रह गई। जाने कब तक वैसी ही खड़ी रही। कोई अपराध-भाव नहीं था उसके मन में। था केवल एक प्रबल आक्रोश कि सेठजी उसे मिटा देना चाहते हैं ''। सेठजी उसे जीने नहीं देंगे'''। इस 'जीने' और 'मरने' का अर्थ भी क्या सेठजी को समझाया जा सकता है ?

उस रात कुमुद को निकट खींचते सेठजी कांपने लगे थे। आवेश से या आक्रोश से, कुमुद समझ नहीं पाई। 'मुझे माफ कीजिए रानी साहिबा ' मैं आपपर अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकता, न आपको छोड़ सकता हूं। जब तक मैं हूं आपको मेरा रहना होगा। इतना बड़ा कारोबार, इतनी बड़ी कोठी, इतनी बड़ी जिन्दगी—सब आपके बिना सूनी है। मैं मामूली आदमी हूं कुमुद रानी, शायद आप ठीक कहती हैं—मैं प्रेम का अर्थ नहीं समझता ''। बस, इतना समझता हूं कि मुझे आपकी जरूरत है ''।' सेठजी ने आलिंगन कसा। कुमुद सिमट गई। किन्तु कुमुद को प्रथम बार लगा, उस सिमटने का दंश उन्हींको नहीं, सेठजी को भी आहत करने लगा है। या यह केवल कुमुद का भ्रम था ?

कुमुद ने केश गूंथना छोड़ दिया। काले, घुंघराले, तेल-विहीन केश बिखरे रहते। सेठजी उन केशों को मुट्ठी में भर लेते—'इनका जूड़ा बनाइए, कुमुद रानी'''। इनपर गजरा सजाइए''। बोलिए, कौन-

सा गजरा मंगाऊं, गुलाब का या चमेली का ?' कुमुद एक विप-वुझी मुस्कान फेंककर मुंह फेर लेती । उसे लगता, सेठजी के निर्मम होंठों से फूलों के कोमल नाम भी पत्थर की चोट वन जाते हैं । 'कुछ नहीं चाहिए मुझे, न गुलाव, न चमेली ।' कुमुद रानी की आंखों में चिन-गारियां भड़क उठतीं । लेकिन कुमुद साफ-साफ देख रही थी, सेठजी की हिसावी आंखों में एक आहत भाव उभरने लगा था । 'क्यों सज़ा दे रही हैं मुझे कुमुद रानी ? क्यों मुझे थोड़ा-सा सुख देने या पाने नहीं देतीं ?' सेठजी के कांपते होंठों से स्वर मिलाकर वे आहत आंखें कहतीं । लेकिन कुमुद रानी की दृढ़ धारणा थी कि वे आंखें नहीं, केवल उन आंखों का स्वार्थ आहत हुआ है ।

पचास वर्षीय सेठजी को दिल का प्रवल दौरा पड़ा । मृत्यु शैया पर उन्होंने कुमुद रानी को वुलाया । कुमुद की हथेली अपने सीने पर दवाते वोले, 'लगता है चलने की घड़ी आ गई है···और सब तो ठीक है, केवल एक काम वाकी रह गया है···याद है, मैंने आपसे कहा था, मैं आपको सड़क पर फेंक सकता हूं···?'

'याद है, यह काम आप आज भी कर सकते हैं ।' कुमुद ऐसे किसी भी क्षण के लिए तैयार रही आई थी । सेठजी के न रहने पर, सेठजी से सम्वन्धित सव कुछ छीना जा सकता है···। वह सव कुछ सेठजी भी छीनकर जा सकते हैं···। कुमुद के दीर्घ दृगों में एक विशाल शून्य उभर आया था···। पूरे तीन वर्ष आवेश और आक्रोश से कांपते सेठजी को वे इसी शून्य पर झेलती रही थीं ।

कुमुद की हथेली सीने पर दवाए सेठजी हांफने लगे थे । डॉक्टर ने कुमुद से हट जाने को कहा था । हटती कुमद ने देखा, सेठजी की निश्चल होती पलकें उसपर निवद्ध थीं···। सेठजी डूवने लगे थे ।

मृत्यु के तीसरे दिन सेठजी का 'विल' पढ़ा जा रहा था । किसी भी स्थिति का सामना करने तैयार वैठी कुमुद निश्चल थी···। भीतर-वाहर एक शून्य के अतिरिक्त था भी क्या···

सारी सम्पत्ति के दो बराबर भाग सेठजी के इंग्लैंड में पढ़ते दो पुत्रों को दे दिए गए थे। 'विल' बिलकुल साफ और निश्चित था।

'और कुमुद रानी के लिए,' एडवोकेट विल पढ़ रहे थे—'मैं यह कोठी, कार और तीन हज़ार मासिक की आय देता हूं। कुमुद रानी जब तक जीवित रहेंगी, ये कोठी और कार उनकी रहेगी। तीन हज़ार प्रतिमास भी उन्हें मिलते रहेंगे। कुमुद रानी प्रसन्न रहें, मेरी भगवान से प्रार्थना है।'

'विल' सुनते निश्चल बैठी कुमुद थरथर कांपने लगी···। और, सारे समय वह मानती रही थी कि उसके निर्मम, स्वार्थी, प्रबुद्धिजीवी सेठ 'प्रेम' जैसे शब्द का कोई अर्थ ही नहीं समझते !

गी

घर के विशाल फाटक के सम्मुख खड़ी पुष्पा को अपना छोटा
र छोटा लगने लगा। सकपकाई-सी खड़ी वह सोच रही
अब क्या करे? गांव से साथ आई पड़ोसिन उसे छोड़कर जा
थी और तांगे वाले ने भरोसे के स्वर में कहा था कि सेठ
माद का 'बड़ा घर' यही है। फिर भी पुष्पा जैसे साहस न
पा रही थी, उस विशाल फाटक के भीतर प्रवेश कर पाने का।
कुछ सकपकाए क्षण ऐसे ही बीते कि एक सिख दरबान भीतर
फाटक की ओर आया। उसने पुष्पा से पूछा, 'क्यों बाई, यहां
ों खडी हो?' सकपकाई पुष्पा ने हकबकाए स्वर में कहा, 'सत्तो
आ से मिलना है।'

बड़े घर के नौकर-चाकरों में भी मालिक का रौब अंशतः आ
जाता है—विशेषकर ऐसे अवसरों पर जब वे अमीर मालिक के
किसी गरीब रिश्तेदार को सकपकाया पाते हैं। दरबान ने कुछ
अनुमान लगाया और पूछा, 'अरे, कौन सत्तो बुआ, बाई, यहां इस
नाम की तो कोई भी महरी-कहरी नहीं है।'

'सत्तो बुआ यहां की मालकिन हैं, हमारे फूफा रामप्रसादजी हैं
इस बड़े घर के मालिक। सत्तो बुआ लमही गांव की बेटी हैं न। वो
हमारी बुआ हैं, सगी बुआ।' पुष्पा का गला सूख रहा था, फिर
भी उसने जोर लगाकर कहा।

दरबान का अनुमान सत्य निकला। तो यह बाई मालकिन की
सम्बन्धी हैं, और वो भी सगी! मूंछों में मुस्कराकर बोला, 'अच्छा,
मालकिन सत्यवती जी हैं तुम्हारी सत्तो बुआ। ठीक है, ठीक है,
चलो भीतर उनके पास पहुंचाए देता हूं।'

गांव के मिडिल स्कूल में दर्जा पांच तक पढ़ी पुष्पा को अपनी

भूल का अहसास शर्म से दबा गया। सत्तो बुआ कहा उसने, सत्यवती कहना था। दरबान की चुस्त वर्दी और रोबीला स्वर पुष्पा को आतंकित कर गया था।

दरबान के पीछे-पीछे सहमे भारी कदमों से चलती पुष्पा भीतर पहुंची। एक के बाद एक कई कमरे पार करती जब वह एक सजे-सजाए बडे कमरे में पहुंची तो अपने होश-हवास खो चुकी थी। दरबान का, 'मालकिन, ये आपसे मिलने आई हैं,' कहता स्वर उसे किसी और लोक से आता जान पड़ा।

बडे घर की मालकिन अपने आकार-प्रकार में उस बडे घर के अनुरूप ही थी। रेशमी साडी में वेष्टित विशाल काया तो पुष्पा की परिचित न थी, किन्तु गोल मुख पर बैठी नाक और छोटी आंखें निश्चय ही उसी सत्तो बुआ की थीं, जिसे बचपन में घरवाले मंत्र 'चीनी' कहकर चिढ़ाते थे।

'अरे पुष्पिया है,' सत्तो बुआ का खनकता स्वर पुष्पा को होश में ले आया। 'अरे! कैसे आई, कब आई?' बुआ पूछ रही थी और होश में आती पुष्पा उस क्षण सोच रही थी कि यदि दरबान उसे पुष्पा जी कहे तो कैसा लगे?

झुकी गरदन को बुआ के परिचित स्वर के सहारे ऊंचाकर पुष्पा ने उत्तर दिया, 'अभी आ रही हूं बुआ, पडोसिन काकी छोड गई है। तुम्हें देखने को इतने दिन से बहुत जी चाह रहा था सो चली आई—' गले तक आई रुलाई को पुष्पा ने रोक ही लिया, समझ गई थी कि इतने वर्षों बाद मिली सत्तो बुआ अब बडे घर की मालकिन सत्यवती जी हैं, उनसे दया की ही आशा की जा सकती है, आत्मीयता की नहीं।

'और मास्टर जी कैसे हैं! बच्चे कितने हैं?' बुआ जैसे पूछने के लिए पूछ रही थीं।

'सब ठीक है बुआ, तुम्हारे आशिरवाद से और बच्चे तो जल्दी-जल्दी हो गए सो पांच हैं। तीन लडकियां दो लडके और…'

'और छठा पेट में है, रामजी की दया से, क्यों?'

बुआ ने उपहास किया था या साधारण हंसी की बात कही थी, पुष्पा समझ नहीं पाई। पर अब तक उसमें बुआ को नज़र भर देखने की हिम्मत आ गई थी।

सत्तो बुआ पुष्पा की समवयस्का थीं। शुरू से ही गदबदी देह और गोठिल दिमाग की बुआ छरहरी और चतुर पुष्पा से हर बात में पिछड़ जाती थीं। दादी के शब्दों में 'झोंटा बखेरकर बंदरिया-सी घूमती सत्तो' किसी काम की न थी, जब कि सुघड़ता से हर काम को करने वाली पुष्पा को देख उनका जी जुड़ा जाता था।

बुआ, भतीजी का विवाह भी एक वर्ष में कुछ समय के अन्तर से हुआ था। सलोनी और सुघड़ पुष्पा की डोली पहले उठी। गांव की एक सम्मानित वृद्धा ने अपने दसवीं तक पढ़े इकलौते पुत्र नरेन्द्र के लिए पुष्पा को आग्रह से चुन लिया। वृद्धा के पास धन नहीं था किन्तु योग्य पुत्र की सम्भावित आशाएं भरपूर थीं और इन्हीं सम्भावित आशाओं के कारण उस समय पुष्पा का भाग्य ईर्ष्या योग्य माना गया था। किन्तु भाग्य ने पुष्पा के साथ छल ही किया। नरेन्द्र को बहुत हाथ-पैर मारने पर प्राइमरी स्कूल की मास्टरी ही मिली और मिला तपेदिक जैसे रोग का अभिशाप। घर की सारी जमा-पूंजी होमकर और काफी कर्ज़ की आहुति देकर नरेन्द्र को प्राणों का वरदान तो मिल गया, साथ ही अभिशापों की श्रृंखला अटूट-सी चलने लगी। कभी न चुकने वाले कर्ज़ और कभी न पूरा पड़ने वाला खर्च की लौह श्रृंखला में कसी पुष्पा तन-मन की चेतना खोती गई। पांच बच्चों को जन्म देकर उसकी रग-रग निर्जीव हो गई और उनके पालन-पोषण की चिन्ता में उसके प्राण जर्जर। दैन्य और दुर्दशा की जोकों ने पुष्पा का सारा जीवन-रस चूस लिया। अब बुआ के सम्मुख बैठी उनके 'कैसे आई' के उत्तर में वह क्या बताती कि जीवित मृत्यु के उस दमघोंटू वातावरण से अचेत-सी अवस्था में निकलकर वह कैसे आ पाई है···! नरेन्द्र का सूखा पीला चेहरा और पांचों बच्चों की निरन्तर चलने वाली चीख-पुकार इस समय भी वह भुलाए नहीं भूल रही थी।

पुष्पा के विवाह के बाद दादी को और चिन्ता हो गई थी, 'झोटा बखेरकर घूमने वाली बदरिया-सी सत्तो की।' तभी सेठ रामप्रसाद की तीसरी पत्नी भी बिना उत्तराधिकारी दिए उन्हें छोड़ गई। तीसरी का स्थान रिक्त होते ही चौथी की खोज हुई और सेठ परिवार के पंडित की नजर पड़ी सत्तो पर। सत्तो का पुष्ट शरीर ही उसकी सबसे बड़ी 'क्वालिफिकेशन' थी। सेठ रामप्रसाद चालीस को पार कर रहे थे। सत्तो का पुष्ट शरीर, घी, दूध से पुष्टतर होकर, रेशम और मखमल में सजकर, शीघ्र ही सेठजी के अनुरूप हो जाएगा, यह पडित जी की अनुभवी आखों ने भाप लिया था। वे तीसरी और दूसरी सेठानी को बहुत थोड़े समय में ही तन्वंगी से पृथुला होते देख चुके थे। सेठानी के रिक्त स्थान की पूर्ति फिर हुई और सत्तो सेठ रामप्रसाद के बड़े घर की मालकिन बनकर चली आई। सत्तो ने पडित जी को निराश नहीं किया। उनकी आशा के अनुरूप वह दो ही वर्ष में सेठजी के पार्श्व में सजने लगी। किन्तु सत्तो भी मालकिन ही बन सकी, मा नहीं।

इतने वर्षों के बाद सत्तो बुआ को देख पुष्पा को चक्कर से आ रहे थे। नजर भर बुआ को देखा तो पुष्पा ने पाया कि बुआ का सावला वर्ण चिकना हो आया है, बैठी नाक झलमलाती हीरे की लौंग के सहारे जैसे कुछ ऊपर उठ आई है। छोटी आखों में तृप्ति की चमक है। बुआ की आंखों से होती हुई उसकी नजर सामने लगे आदमकद आइने में अपने प्रतिबिम्ब पर ठहर गई। फीका चेहरा, सूखे पपड़ाए होंठ, हड्डीला शरीर और बुझी-बुझी आखें—पुष्पा ने घबराकर नजर हटा ली।

सहसा पुष्पा को लगा कि उसे भी तो कुछ पूछना चाहिए। सूखे होंठों पर जीभ फेरकर, साड़ी के आचल को मोड़ती-खोलती बोली, 'बुआ तुम—आप कैसी हो?'

सत्तो बुआ आज भी पुष्पा की समवयस्का थी और सगी बुआ भी, किन्तु सोफे पर पसरी बुआ और फर्श पर कालीन में धसी-सी पुष्पा में 'तुम' से 'आप' का वह अन्तर आ चुका था। पुष्पा के

को अनसुनाकर बुआ ने आवाज़ लगाई, 'अरे कोई है, ड्राइवर से बोलो गाड़ी निकाले। हमें सेठ भानामल के यहां न्यौते में जाना है।' और अनमने स्वर में पुप्पा से पूछा, 'तू तो अभी ठहरेगी ?'

उत्तर में पुप्पा के मुंह से जाने कैसे निकल गया, 'नहीं, बुआ कल सवेरे चली जाऊंगी।' वह सोचकर तो आई थी कि दो-चार दिन बुआ के पास ठहरेगी, बुआ कितनी भी बड़ी हो गई हों—हैं तो उसकी सत्तो बुआ ! किन्तु कुछ ही देर में इस खुले हवादार बड़े कमरे में उसकी सांस उससे अधिक घुटने लगी थी जितनी वन्द सन्दूक-सी अपने घर की कोठरी में घुटा करती थी।

इतनी जल्दी पीछा छुटने की बात से जैसे उल्लसित होकर बुआ अपनेपन से बोलीं, 'अरे हां, बाल-बच्चों को छोड़ आई है न, ठीक है कल चली जाना। आ तुझे कुछ कपड़े दूं, तेरे काम आ जाएंगे।'

बुआ की पुकार पर जिस स्त्री ने कमरे में प्रवेश किया उसकी उजली सफेद साड़ी से प्रभावित होकर पुप्पा ने सिर झुकाकर झट से नमस्ते की। घबराहट में वह बुआ का अभिवादन न कर सकी थी इसीलिए इस बार सतर्क थी। 'अरे यह तो हमारी दाई है,' बुआ हंसी। पुप्पा संकोच से दुहरी हो गई।

दाई-नौकर ऐसे उजले कपड़े पहनते हैं ! उसकी अपनी चाव से खरीदी और पहनी गई पूरे दस रुपये की साड़ी उसे और भी मैली और भद्दी लगने लगी। दाई को अपनी ओर ध्यान से देखती पाकर पुप्पा ने अपनी साड़ी से अपने तलुओं को ढंक लिया, फिर भी उसे लगता रहा कि वह उघड़ गई है, उघड़ी जा रही है…

बुआ ने लोहे की अलमारी खोली और साड़ियों के ढेर में से चार साड़ियां पुप्पा के लिए निकाल दीं, साथ में चार ब्लाउज़ भी, बोलीं, 'मेरे ब्लाउज़ हैं, छोटे कर लेना, इनमें तेरे ब्लाउज मज़े में निकल आएंगे। साड़ियां पहनी हुई हैं पर तेरे तो खूब काम देंगी।' चांदी का तालों का गुच्छा कमर में खोंसती बुआ, दाई को पुप्पा को खिला-पिलाकर पिछवाड़े की कोठरी में सोने की व्यवस्था कर देने का आदेश देकर चली गई।

पिछवाड़े बरामदे में पुष्पा खाने बैठी। अरहर की घी पड़ी दाल देखकर वह सारे दुःख भूल गई; साथ में बारीक चावल का भात भी था। मांगने पर दाई ने नींबू भी ला दिया। नींबू पड़ी दाल के लिए पुष्पा बरसों से तरस रही थी। गांव में नींबू बड़े महंगे थे और उसके साथ घी पड़ी दाल और बारीक चावल के भात का संयोग पुष्पा के लिए मात्र कल्पना की वस्तु बनकर रह गया था।

नौकरों की उस छोटी कोठरी में साफ-सुथरी दरी पर खा-पीकर बैठी पुष्पा ने बहुत देर बाद चैन की सांस ली। बुआ के सजे-सजाए बड़े कमरे से यह छोटी कोठरी पुष्पा को अधिक अपनी लगी। स्वादिष्ट भोजन की तृप्ति बुआ की उपेक्षा के दंश को हलका कर गई थी। आज की सारी रात अपनी है, जाने कितने वर्षों बाद वह आज इतनी साफ-सुथरी दरी पर चैन की नींद सो पाएगी, यह कल्पना पुष्पा को अनिर्वचनीय सुख का आभास दे रही थी। स्वादिष्ट भोजन की तृप्ति और चैन की नींद की कल्पना के साथ पूरी चार साड़िया और चार ब्लाउज़ों की प्राप्ति ने उसकी खीझ और ऊब से भरी ज़िन्दगी में रस घोल दिया था।

कोठरी का दरवाज़ा भीतर से बन्दकर पुष्पा ने साड़ियों को निरखना-परखना आरम्भ किया। बचपन से अब तक उसे पूरी चार साड़िया एक साथ मिली हों, यह सम्भव नहीं हो पाया था। हां, विवाह में पांच साड़िया अवश्य मिली थीं।

एक साड़ी गुलाबी रंग की चौड़े काले बॉर्डर की थी, दो छापे की महीन कपड़े की और एक अच्छी-खासी रेशमी थी जिसपर रेशम के बूटे कढ़े थे। पुष्पा सोच रही थी कि छापे की साड़िया तो वह तब पहनेगी जब दोपहर में पास-पड़ोस में जाना होगा। ऐसी महीन साड़िया गांव में उसकी परिचितों में किसीके पास न थीं। रेशमी साड़ी विवाह आदि के अवसर के लिए धरी रहेगी। ऐसी एक रेशमी साड़ी के अभाव में विशेष अवसरों पर वह मन ही मन कितना रोई थी। और यह गुलाबी साड़ी तो वह नरेन्द्र के लिए पहनेगी'४ उसे खूब याद था कि बरसों पहले ऐसी एक गुलाबी साड़ी में

खकर नरेन्द्र ने कहा था, 'आज तो तू पानू हलवाई की बरफी-सी मीठी लग रही है...' इन चार साड़ियों के सहारे तो कम से कम दो वर्षों के लिए उसकी बेरंग जिन्दगी में अनेक रंगीन क्षण आते रहेंगे...

साड़ियों को करीने से लपेटकर सिरहाना बनाकर लेटी पुष्पा नींद से बोझिल आंखों से उन्हीं रंगीन क्षणों के सपने देखती रही।

नींबू पड़ी दाल और बारीक चावल के भात का दुर्लभ भोजन भर पेट खाकर, चार साड़ी और ब्लाउजों की अलभ्य संपदा पाकर, जीवन से बेतरह ऊबी और खीझी पुष्पा को आज, रात भर के लिए ही सही, ज़िन्दगी बड़ी अच्छी-अच्छी लग रही थी।

प्यार

सवेरे-सवेरे ऊपर मैं बाथरूम में थी, नीचे पंडित-पंडितानी में महाभारत मचा हुआ था।

पंडित कह रहे थे, 'आज तो तनिक पुदीने की चटनी बना दे पंडितानी, जी ठीक नहीं है, कल बिटिया की दावत में ज्यादा खा गया सो तबियत बिगड़ गई।'

'हां-हां, क्यों नहीं बना दूं पुदीने की चटनी ? इस महंगी के जमाने में पूरे दो आने लगेंगे और तुमने कुबेर का खजाना सौंप दिया है न हमें जो रोज हुकुम चलाते हो ये बना दे, वो बना दे।' पंडितानी चीख रही थी।

पंडित वैसे तो नरम स्वभाव के थे पर जब गरम होते तो पंडितानी पर हाथ चला बैठते और फिर पोथी-पत्रा लेकर जो निकलते तो देर तक घर न लौटते। पंडितानी रोती-धोती तो नहीं पर मान के मारे खाना छोड़ बैठती और तब खाती जब पंडित फिर हाथ न उठाने की सौगन्ध खाते। किन्तु पंडित बार-बार सौगन्ध तोड़ते, पंडितानी बार-बार खाना छोड़ती—मैं कई वर्षों से देखती आ रही थी।

वही फिर हुआ, 'तड़' से आवाज आई और मैंने समझ लिया कि पंडित ने वेलन, चिमटा या फिर अपना हाथ ही दे मारा है।

बाथरूम में खड़ी-खड़ी मैं महाभारत सुन रही थी और सोच रही थी कि आज नहाऊं या न नहाऊं। पिछली रात हमने अपने विवाह की पहली वर्षगांठ मनाई थी। कुछ अंतरंग मित्रों को खाने पर बुलाया था और उनकी शुभकामनाओं के बीच मैं प्रथमेश से सटी बैठी थी—फिर रात देर तक हम एक दूसरे की बांहों में खोए रहे थे···इसी-लिए आज जी चाह रहा था कि प्रथमेश की सांसों का स्पर्श लिए इन

अंगों को वैसा ही रहने दूं और 'केजुअल लीव' लेकर सारा दिन अपनी सुहाग-सेज में समाई रहूं। देखूं, प्रथमेश से कहूं कि वे भी आज 'लीव' ले लें···मेरे निकट बने रहें और मैं बिना नहाई बाथरूम से निकल आई।

खाने की मेज पर प्रथमेश स्लाइस पर मक्खन लगा रहे थे, मुझे देखकर भी निर्विकार बने नाश्ता करते रहे। मैं जानती हूं बड़े 'पंक्चुअल' हैं वे, अपनी ड्यूटी के प्रति अत्यन्त सचेत भी। वे कॉलेज इतने ठीक समय से पहुंचते कि मैं उनसे विनोद किया करती, 'तुमसे ही लोग घड़ी मिला लिया करें तो कभी गलती न हो।'

वे कॉलेज के लिए लगभग तैयार थे फिर भी मैंने कहा, 'डियर, क्या आज रुक सकोगे, लीव ले लो न, मेरी खातिर।'

उत्तर मिला, 'नहीं सरो, आज मेरा इम्पॉर्टेन्ट क्लास है, मिस करना ठीक नहीं।'

बहुत बुरा लगा मुझे, इतना भी ख्याल नहीं रख सकते मेरा···मैं उल्टे पैरों बाथरूम में चली गई और देर तक नहाती रही।

वे, प्रथमेश—प्रथमेश ठाकुर। मैं सरोज—सरोज वर्मा। वे बंगाली, मैं कायस्थ—हमारा प्रेम-विवाह हुआ था।

प्रथमेश के माता-पिता, भाई-बहन कोई नहीं था। अनाथ प्रथमेश अपने पिता के एक मित्र के संरक्षण में पले किन्तु अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर बढ़े। उन्होंने दर्शन एम० ए० में सर्वोच्च स्थान पाया था फिर तीन ही वर्ष में 'डॉक्टरेट' भी कर ली थी। उन्हें 'लेक्चरर' हुए चार वर्ष हो चुके थे, 'युनिवर्सिटी-सर्कल' में उनका नाम सम्मान से लिया जाता था। मैं हिन्दी की 'लेक्चरर' होकर उन्हींके कॉलेज में नियुक्त हुई।

एक डिबेट में हम दोनों निर्णायक थे। किसी प्रश्न पर मुझमें और प्रथमेश में बहस हो गई थी। बहस के अन्त में वे हंस पड़े थे, 'मान गया आपको मिस वर्मा, मैं अपनी हार स्वीकार करता हूं।'

फिर उन्होंने चाय के लिए आमन्त्रित किया और एकदम प्रपोज कर बैठे, 'मेरा अपना कोई नहीं मिस वर्मा, क्या आप मेरी हो

सकेंगी ?'

मैं आश्चर्य और हर्ष से अवाक् रह गई थी। जब से मैं कॉलिज में आई प्रथमेश मेरी आंखों में समा गए थे। उनका सुदर्शन सौम्य व्यक्तित्व मेरे एकान्त क्षणों को सपनों से भर देता। उनसे साधारण औपचारिक परिचय ही हो पाया था, पर वे जब भी सामने आते हृदय की धड़कन तेज़ हो जाती। उनका-सा ही मेरा भी कोई न था, माता-पिता, भाई-बहन कोई नहीं। मैं भी अकेली थी और किसीको अपना बनाने के लिए आतुर भी। प्रथमेश को जब भी देखती बरबस चाहने लगती कि क्या वे मेरे अपने हो सकेंगे ?

उन क्षणों प्रथमेश के प्रत्युत्तर में इतना ही कह सकी थी, 'यह मेरा सौभाग्य होगा⋯' और प्रथमेश ने अपनी दोनों हथेलियों में मेरी हथेलियों को भर लिया था।

उसके बाद भी हमने विवाह के लिए पूरे एक वर्ष प्रतीक्षा की थी। प्रथमेश चाहते थे कि समय हमारे आवेश को संयत कर दे। प्रथमेश के संयत व्यक्तित्व ने मुझे भी संयत कर दिया था। वह पूरा एक वर्ष हम एक दूसरे के सपनों में जीते रहे। फिर विवाह हुआ हमारे सपने सच हो गए।

बाथरूम में देर तक नहाती, पानी की ठंडी धार में भीगती मैं उन मधुर क्षणों में भीग इस तिक्तता को धो डालना चाहती थी जो हमारे बीच अचानक आ जाती थी। अभी उस दिन ही तो प्रथमेश ने टोमैटो सॉस मांगा था और मुझे खाने के बीच में से उठकर देना पड़ा था। बुरा लगा था मुझे, क्या वे स्वयं नहीं ले सकते थे जब कि उन्हें मालूम था कि 'इनविजिलेशन' करने के कारण मैं बेहद थकी हुई थी। प्रथमेश का किंचित भी विरोध मेरे प्रबुद्ध नारीत्व के लिए चुनौती बन जाता था।

नहाकर मैंने चाहा कि सहज होने के लिए प्रथमेश के पसन्द की नीले फूलों वाली जारजेट की साड़ी पहन लूं। पहनी भी, फिर तुरन्त उतारकर अपनी पसन्द की गुलाबी सिल्क की पहन ली।

तैयार होकर कॉलेज जाने के लिए मैं नीचे उतरी तो टोमैटो सॉस

में ही उलझी हुई थी। देखा, पंडितानी पुदीने की चटनी पीस रही हैं। हाथ ठीक से नहीं चल रहा था, शायद हाथ में ही चोट लगी थी। वे मुझे देखकर सकुचाई-सी हंसीं, 'विटिया' पंडित पुदीने की चटनी को कह गए हैं सो ज़रा वना दूं।'

'ठीक है अम्मा, मार खाती जाओ, चटनी खिलाती जाओ।' मैं तिक्तता से वोली। सोच रही थी कि उस दिन मुझे टोमैटो सॉस की वोतल फर्श पर दे मारनी थी।

मैं पंडितानी को अम्मा कहती थी। सुना था, जव मैं अंगूठा चूमनी थी, एक अंधेरी वरसाती रात में वे पंडित का हाथ थामे हमारी चौखट पर आ खड़ी हुई थीं। घर में केवल मेरी मां थीं और मैं, पिता हम दोनों को सदा के लिए छोड़कर जा चुके थे। विधवा मां टूटे सपनों के वीच मुझे छाती से सटाकर जी रही थीं। वे सिद्धान्तवादिनी थीं।

पंडितानी से मां ने परिचय पूछा, उत्तर मिला—'मैं कुलटा हूं वीवीजी, पति को छोड़कर इस व्राह्मण के साथ चली आई हूं। पति के घर में सव कुछ था पर पति ने केवल सौदा किया था, मेरे तन का। जैसे वे लाखों का व्यापार करते थे उन्होंने मुझे भी खरीद लिया था। मेरा मन उनसे कभी नहीं मिला। मैं मेवे खाती, रेशम पहनती लेकिन तड़पती रहती। पंडित उस वड़े घर में पूजा-पाठ करने आते थे। इन्हें देखा, इनके भोलेपन ने मोह लिया। मैंने घरवार छोड़ा तो पंडित ने भी अपनी लगी-वंधी रोटी छोड़ी। हम वह शहर ही छोड़कर चले आए हैं। आप चाहो तो हमें वसा लो वीवीजी, लेकिन मैं कुलटा हूं सो वता दिया!' मां ने मुझे सव वताया था।

पंडितानी की स्पष्टोक्ति ने मां को मोह लिया! पंडितानी की आपवीती मां तक ही सीमित रही। पंडित-पंडितानी नीचे की कोठरी में वस गए। हम ऊपर की मंज़िल पर रहते थे। मेरे पिता हमारे रहने के लिए मकान और जीवित रहने के लिए एक वड़ा मकान छोड़ गए थे, जिसका किराया हमारी आजीविका था।

मैं पहले पंडितानी की गोद में, फिर उनका आचल पकडे घूमती, बडी होती रही। मैं उन्हें अम्मा कहती थी। धीरे-धीरे मैं 'फ्रॉक' पहनना छोडकर साडी पहनने लगी, तभी लम्बी बीमारी झेल मेरी मा भी न रही। पडितानी अम्मा ने हमारा चौका-चूल्हा ही नहीं सभाला, हम दोनों को भी सभाल लिया था। मा मुझे उनके हाथ सौंपकर निश्चिन्तता से मरी, उन्हें पडितानी पर अगाध विश्वास हो गया था। पडितानी अम्मा हममे बंधा-बंधाया वेतन ही लेती, अपनी रोटी अलग बनाती और हमारे लाख कहने पर भी बिना किसी विशेष अवसर के हमारे साथ भोजन तक न करती।

पडित भारी शरीर के मनमौजी अतिभोजी प्राणी थे। थोड़ी-बहुत पुरोहिती करते और डटकर खाते। स्वादिष्ट भोजन का प्रेम उनकी तबियत तक बिगाड देता था। निरक्षर पडितानी हलके शरीर की, मानिनी, मितभाषिणी थीं। जाने कितने व्रत-उपवास करतीं और जाने कितनी बार पडितजी से रूठकर स्वय न खातीं पर पडित को खिलाना न भूलतीं। वे रात-दिन हमारी और अपनी गृहस्थी के कभी न समाप्त होने वाले कामों में व्यस्त रहतीं।

उस दिन, दिन भर मैं प्रथमेश के प्रति तिक्त रही आई। क्या हो जाता यदि वे केवल एक दिन मेरे निकट रह लेते, ऐसा भी क्या ?

शाम को चार बजे जब घर लौटी तो न प्रथमेश लौटे थे, न पडित। पडितानी अम्मा का मुख सूख गया था। खाना नहीं खाया होगा, मुझे मालूम था। मुझे भी सिरदर्द हो रहा था। प्रथमेश नहीं आए न सही, मैं तो चाय पी लू।

मैं चाय पी ही रही थी कि प्रथमेश भी आ गए। प्रतिदिन हम साथ ही आते थे, आज मैंने उन्हें जान-बूझकर 'एवॉयड' किया था। चाय की मेज पर प्रथमेश ऐसे निर्विकार बैठे रहे जैसे कुछ हुआ ही न हो। कम से कम उन्हें 'सॉरी' तो कहना ही चाहिए ··मुझे चोट लगी है क्या वे इतना नहीं समझते ? या समझना ही नहीं चाहते ? मेरी कुढन बढ रही थी।

ऐसा अनेक बार हो चुका था। मैं खिन्न होती, वे चुप हो जाते।

उनकी चुप्पी मेरी खिन्नता को आक्रोश बना देती किन्तु वे फिर भी चुप ही रहते। यह चुप्पी तब टूटती जब मैं सहज हो जाती। पर हर बार सहज होने के प्रयास में मैं और असहज होकर रह जाती थी।

शायद प्रथमेश भी थके थे, बोले, 'सरो, तुम चाहो तो कहीं जा सकती हो, मैं रेस्ट करना चाहूंगा।'

मैं और भी जल गई और बिना उत्तर दिए बेडरूम के द्वार सशब्द बन्द कर, मैंने अपने आपको बन्द कर लिया।

पंडितानी अम्मा के आग्रह पर ही मैंने 'बेडरूम' खोला और खाना खाया। प्रथमेश अब भी चुप थे। एक ही रात पहले तो हमने अपने प्रेम-विवाह की पहली वर्षगांठ मनाई थी और आज यह अबोला लिए ऐसे हो गए थे जैसे चूक गए हों। इस बार जब तक ये क्षमा नहीं मागते मैं इनसे नहीं बोलूंगी, मैंने निश्चय कर लिया था।

काफी रात हो गई थी, प्रथमेश 'डबल बेड' पर मेरे पास ही नींद में डूबे हुए थे। किन्तु मेरी आंखों में नींद नहीं थी। मुझे प्रथमेश का व्यवहार शत-शत दंश बनकर चुभ रहा था। मेरी खातिर ये एक दिन भी मेरे निकट नहीं रह सकते और क्षमा-याचना भी नहीं···।

बारह बज रहे थे, नीचे किवाड़ खटके। पंडित आए होंगे। चलूं देखूं तो। मैं उठकर बालकनी में आई, नीचे झांका। पंडित ही थे। झोले में से एक शीशी निकालते पंडित बोले, 'सवेरे ज्यादा लग गई पंडितानी, ले ये दवा लगवा ले, चोट ठीक हो जाएगी।'

'पहले तुम ये गंडा बंधवा लो। दोपहर हनुमान मंदिरवाले बाबाजी से लाई हूं। तुम आजकल कम खाय रहे हो, मरी जाने किसकी नजर लग गई।' पंडित को खटिया पर बैठाकर पंडितानी उनकी कलाई पर गंडा बांध रही थीं।

मेरे सिर का दर्द और बढ़ गया था और मैं सोच रही थी कि प्रथमेश नहीं झुकते तो मैं क्यों झुकूं?

प्रेम-पत्र

लाखी को वह दिन, वे घड़ियां सुहाग की रात-सी याद रह गईं···, अपनी कोठरी के पिछवाड़े खुले में बैठी लाखी जाड़े की धूप मे गरमा रही थी। जाड़े की धूप लाखी को एक वरदान-सी लगती। गर्म कपड़ों के अभाव में जाड़े की ठंडी रात तो काटे न कटती किन्तु दिन गर्म धूप के सहारे बीत ही जाते। कोठरी के पिछवाड़े जब वह धूप सोना बरसाती तो लाखी के ध्यान में उसका सोना नहीं, उसकी वह सुखद उष्णता ही समाई रहती, जो कलुआ से मिली मार से दुखते उसके अंगों को सेंक देती थी।

ऐसी ही एक जाड़े की दोपहर में लाखी गरमा रही थी। बगल में पड़ा सो रहा था बडका, उसका चार साल का पहला पुत्र, और गोद मे था छुटका, उसका दो वर्ष का दूसरा पुत्र। छुटका कभी स्तन खींचता कभी आंचल—और कभी मां की गोद को किलकारियों से भर देता। उस अभागे को क्या पता था कि उसकी इक्कीस वर्षीया मां असमय में ही इकसठ की हो चुकी है। लाखी का रौंदा हुआ पत्नीत्व मातृत्व से उल्लसित न हो सका था। बच्चे जन्मे हैं तो पालने ही पड़ेंगे···इसी भाव से वह उनकी देखभाल करती। लाखी के विगत ने उसकी संज्ञा को ऐसा जड़ कर दिया था कि अब वह ऐसा वर्तमान थी जिसका कोई भविष्य नहीं होता। बडका और छुटका को बाप का कालापन और मां का सलोनापन विरासत मे मिला था। अधिकतर नंगे-धड़ंगे घूमते वे काले किन्तु चिकने पत्थर से निर्मित शैशव के प्रतिमान से लगते। बस्ती वाले उनके कालेपन पर हंसते तो उनके सलोनेपन पर दुलार भी लेते।

दोपहर ढलने लगी थी। लाखी को तीन बजे गर्ल्स हॉस्टल की

नौकरी पर जाना था। वह सुबह शाम वहां वर्तन मांजने जाया करती थी। समय हो रहा था और वह उठने ही वाली थी कि उसने सुना कोई पूछ रहा था—'क्या कोई लाखी है यहां, उसके नाम की चिट्ठी है। 'लाखी'···'चिट्ठी'···लाखी को अपने कानों पर विश्वास न हो रहा था···फिर भी वह उठी, वढ़कर देखा तो पोस्टमैन था। 'लाखी मेरा नाम है भैया, पर मुझको कौन पत्री भेजगा···' लाखी कह भी रही थी, सोच भी रही थी। 'अरे कोई है, जिसने लिखा है लाखी भौजी को मिले। वाह, जैसे उसकी भौजी जगत भौजी है···' कहता पोस्टमैन जव चिट्ठी लाखी के कांपते हाथों में थमाकर वढ़ गया तो लाखी को अपनी आंखों पर विश्वास न हो पा रहा था।

सचमुच की चिट्ठी और वह भी उसके नाम, लाखी घवराहट में भी पुलक उठी। लेकिन अव वह क्या करे···चिट्ठी में क्या लिखा है इसे जानने के लिए वह अधीर हो उठी। उसे ध्यान आया कि हॉस्टल की वार्डनजी से क्यों न चिट्ठी पढ़वा ले। वे उसपर सदय रहती हैं, उन्होंने ही उसे हॉस्टल के काम पर रखा था।

हॉस्टल तक पहुंचने में जितना समय लाखी को लगा, उतने समय वह यही सोचती रही कि यदि सचमुच में यह चिट्ठी उसके लिए है तो···तो·· लेकिन इसके आगे वह कुछ सोच भी तो नहीं पा रही थी।

प्रौढ़ा वार्डन अपने निजी कमरे में कोच पर वैठी कोई पत्रिका पढ़ रही थीं। लाखी सर झुकाए, सिमटी उनके सामने जा खड़ी हुई। उन्होंने पूछा—'क्या है री लाखी ?' तो उत्तर में लिफाफा वढ़ाकर लाखी और भी सिमट गई।

वार्डन पत्र पढ़ रही थीं और लाखी वेहोशी में सुन रही थी या सुनकर वेहोश हुई जा रही थी, इसका निर्णय करना कठिन था। लेकिन वार्डन साफ-साफ पढ़ रही थीं और लाखी साफ-साफ सुन रही थी—

'लाखी भौजी को देवर रमेसुर का राम-राम, पा लागी। आगे हम यहां राजी खुसी हैं आपकी राजी खुसी नेक चाहते हैं। आगे

भौजी हमें आपकी बहुत याद आती है। आगे आपसे एक बिनती है। भौजी हम बिना मा बाप के हैं सो अपने मन की किससे कहे। मन की आपसे कह रहे हैं आसा है आप पूरी करेंगी। भौजी हमरा बियाह करवाय दीजिए। उस दिन जब आप हमका गरम परौठा और भाजी खिलाय रही थी तो हमार मन में यही बात उठ रही थी कि आपसी किसीसे हमार बियाह हो जावै। आप कितनी अच्छी हो भौजी परौठे कितने अच्छे बनाती हो। जब से मा मरी हम ने कभी परौठे नही खाए। आप को देख कर मां की याद बहुत आय गई और यह बात भी मनवां मा बार-बार उठी कि बियाह होवै तो आप जैसी मिले। आप हमती हो तो गोड छू लेवैं का जी होय उठत है। सो भौजी हम अपनी बात आपसे कह रहे हैं। कल्लू दादा से तो उस दिन भेंट हो नहीं सकी। आप ही उनसे कहिएगा और हम तो अपनी बात आप पर छोड़ रहे हैं और आपको हम कभी नाहीं भूल सकत हैं और बड़का छुटका के प्यार, कल्लू दादा के परनाम और इस पते पर चिट्ठी दीजिएगा।' पढ़ना समाप्त कर वार्डन ने लाखी की ओर देखा और देखती रह गई·· लाज भरे उल्लास ने लाखी के सलोने सावले मुख पर मोहक रग बिखेर दिए थे।

वार्डन कुछ पल चुप रही, फिर हसी—'अरे लखिया, तू तो ऐसी लजा रही है जैसे यह कोई प्रेम-पत्र हो। अब जा अपने काम पर लग, नही तो देर हो जाएगी····' और वे पत्र को फर्श पर फेंककर फिर पत्रिका पढ़ने लगी।

पत्र को अपनी अगिया में खोंस जब लाखी कमरे से बाहर निकली तो सहसा सोलह वर्ष की वह तरुणी हो आयी थी जो अपनी मुस्कान पर आप मुग्ध हो उठती है और अपनी लाज पर स्वय ही लाज आती है। उन क्षणों न वह मजदूर कलुआ की निष्प्राण 'मेह-रिया' थी न बड़का-छुटका की निर्जीव 'माई', वह सहसा एक जीती-जागती 'भौजी' बन गई थी···

बर्तनों के ढेर पर यन्त्र से चलते लाखी के हाथों में आज चेतना

जाग उठी थी''' बर्तनों से टकराती चूड़ियों की खनखनाहट में झांझ-सी बजने लगी थी'''और वह रमेसुर की सोच रही थी'''

उस सांझ लाखी सरकारी नल से कलसी भर कर लौट रही थी कि सांझ के झुटपुटे में किसीने झुककर उसके पैर छू लिए। लाखी ऐसी सकपकाई कि कलसी गिरते-गिरते बची। यदि कोई उसे एकाएक मार बैठता तो वह उतना न अचकचाती किन्तु ऐसे पैर तो उसके कभी किसीने कभी न छुए थे। आगन्तुक कह रहा था, 'हमार नाम रमेसुर है भौजी। हम भी कल्लू दादा के ही गांव से आय रहे हैं। उन्हें सायत हमार सुध नाहीं हो मुदा हम का ऊ खूब याद है। जान पड़ा कि ऊ इहां हैं सो भेंटने आय गए।'

लाखी स्वागत में कुछ न कह सकी, भीतर गई और लोटे में गुड़ का शर्बत घोलकर ले आई। शर्बत पीते पाहुने को लाखी ने देखा तो कोरी कमीज़ और धोती पहने वह युवक उसे भला ही लगा। गहरा सांवला रंग, हल्की मूछें और शर्मीली आंखें जो लाखी के सामने भी नहीं उठ पा रही थी।

लाखी अब भी चुप थी। रमेसुर ने ही फिर कहा—'माई बाबू पिलेग में चल बसे भौजी। हम घर से बेघर हो गए। कोई सर पर हाथ धरै वाला न रहा। सोचा मिलटरी में भरती होय जावैं। सो भगवान ने सुन ली। भरती होय गए हैं। आगे की भगवान जानै। इसी रात की गाड़ी से जाय रहे हैं, कल्लू दादा आ जाते तो भेंट हो जाती'''

लाखी के मन में ममता जाग उठी। 'ऐसा भला-सा भैया और फउज में भरती होय गवा, काली माई कुसल करैं'''।' लाखी की आंखों में मां जाये भाई का एक कल्पित चित्र उभर आया। हौले से बोली—'ऊ तो रात गए आवेंगे पर तुम ब्यालू कर के जाना।'

गर्म परोठे और भाजी से उस कुछ देर के 'देवर' का सत्कार करती भौजी को वे क्षण अपने चोट खाए अंगों पर मरहम से लगे। रमेसुर कलुआ के आने के पहले ही चला गया। कलुआ से लाखी ने जब रमेसुर का ज़िक्र किया तो वह चिल्लाया, 'कौन ससुर रमेसुर!

'ससुरे को तूने इस महंगी में ब्यालू करवाया, अब इसे कौन भरेगा ? तेरा बाप ?' और उस सत्कार के पुरस्कार में मिली कलुआ की वह लात जिसने उस मरहम को फिर क्षत-विक्षत कर दिया। बात आई गई हो गई किन्तु उसी रमेसुर ने साल भर बाद यह चिट्ठी लिखी···

वार्डन जी ने कहा था, 'अरे लखिया तू तो ऐसा लजा रही है जैसे यह कोई प्रेम-पत्र हो···' प्रेम-पत्र·· पिरेम-पत्तर···हाय राम·· वर्तन मलती लाखी ने राख भरे हाथों से उस अकेले में घूघट खीच लिया। बिसरा रमेसुर, उस पत्र के द्वारा फिर लौट आया था और बार-बार कह रहा था, 'आप हंसती हो तो गोड़ छू लेवै का जी होय उठत है···'

लाखी जानती थी कि वह रमेसुर के ब्याह के सम्बन्ध मे कुछ नही कर सकती। कलुआ से पत्र की चर्चा भी करना उसे अपने को जी भर कर पीटने का न्यौता देना था। वह स्वय इतनी अकेली, इतनी भयभीत थी कि किसीसे साधारण बात तो कर नही पाती थी। ब्याह की इतनी बड़ी बात कैसे करती ? किन्तु यह पत्र मिलने के, पढ़े जाने के, और उसके बाद की सारी रात के वे क्षण लाखी को सुहाग की रात से याद रह गए···

सावली-सलोनी लाखी हसती तो कपोलों पर सलोनेपन के भवर पडने लगते और चुप रहती तो वह सलोनापन मुखर चिबुक पर स्थिर हो जाता। निर्मल दन-पक्ति से होड करती निश्छल आखे— देखने वालो को एक बार और देखने के लिए विवश कर देती।

पितृहीना, इसी लाखी को काले कलुआ के हाथ, दो सौ रुपये लेकर, सदा के लिए सौप देने वाली विमाता ने अपनी क्रूरता के साथ अपनी उस ईर्ष्या को भी सतुष्ट कर लिया था जो लाखी के सलोनेपन के कारण उसे जलाया करती थी।

कलुआ कानपुर की मिलों मे काम करने वाले हजारो मजदूरो मे से एक था, किन्तु उसकी दो विशेषताओं का जवाब नही था— एक तो उसके काली स्याही से काले स्याह रग का और दूसरी उसकी

बेजोड़ चिड़चिड़ाहट का। उसके साथी उसे कटखना कहते, जो बात पीछे करता है पर काटने को पहले दौड़ता है। और तो और वह स्वयं पर भी चिड़चिड़ाया करता। भूख लगती तो पेट को गाली देता, प्यास लगती तो पानी को कोसता। बड़बड़ाता सोता, गुर्राता उठता; और यही कलुआ जब ठर्रा चढ़ा लेता तो बिना मारपीट किए शायद नशे के पूरे आनन्द से वंचित रह जाता। लाखी के मिल जाने पर उसे मारपीट का वह आनन्द भी मिलने लगा जिसमें पीटने का सुख ही सुख था, पिटने का दुःख कभी नहीं।

तेरह वर्ष की सांवली सलोनी बालिका बधू लाखी को पीछे-पीछे लिए जब बत्तीस वर्ष का काला कटखना कलुआ बस्ती में आया तो उन केवल पेट के लिए जीने वालों के कलेजे भी कसक उठे। स्त्रियों ने सहानुभूति से और पुरुषों ने स्पर्द्धा से एक ही बात कही, 'बन्दर के गले में मोतियों की माला···।'

'बन्दर के गले में मोतियों की माला' की यह उक्ति लाखी के संदर्भ में अक्षरशः सत्य हो गई। कलुआ वह ठूंठ था जो सारी बरसात बीत जाने पर भी हरा नहीं होता। उसने लाखी को ब्याहा ही नहीं, खरीदा था, जैसे कसाई गाय को खरीद लेता है। लाखी कलुआ की कसाई दृष्टि में केवल वह गाय थी जिसका मूल्य केवल उसके हाड़-मांस की उपयोगिता होता है।

कलुआ को गालियां खाकर रोटी खिलाने वाली मिल गई थी और पिट-पिटकर अपना शरीर देने वाली भी।

पहली रात कलुआ के पानी मांगने पर जब लाखी को लोटा ढूंढ़े न मिला तो उसके मुंह पर कलुआ के हाथ का सुहागरात का वह थप्पड़ पड़ा जिसने आने वाली हर रात का भाग्य लाखी के अपने आंसुओं से लिख दिया। बचपन से विमाता के हाथों पिटती-कुटती लाखी इतना कभी न रोई थी जितना उस रात रोती रही। विमाता से पीछा छूटने की थोड़ी-बहुत सांत्वना लाखी के जिस अबोध मन को मिली थी उसे कलुआ के एक ही थप्पड़ ने अतल गर्त में ढकेल दिया। 'ससुरी एक ही थप्पड़ मां रोवै लागी, कहता

कलुआ निश्चिन्त होकर टाग पसारकर सो गया और लाखो रोती रही···रोती रही···।

लाखो का पिटता-कुटता जीवन कटना रहा। किन्तु उसके इसी पिटे-कुटे जीवन को रमेसुर के पत्र ने जैसे एक नया जन्म दे दिया।

पत्र को अगिया मे छिपाए उस साझ जब लाखो घर लौटी तो छुटका को बडी देर तक कलेजे सटाए रही। बडका के पैसा मागने पर उसे पैसा भी दिया, गुड की डली भी···और सोचती रही कि वह क्या बनाए जो कलुआ दो रोटी अधिक खाए···

रमेसुर के आए की बात तो आई-गई हो गई थी किन्तु उसके पत्र की बात लाखो के लिए आई-गई न हो सकी। लाखो ने उस पत्र को हॉस्टल की लड़कियों से इतनी बार पढवाया कि वे लड़कियां इसे उसका पागलपन समझने लगीं और लाखो को उसका एक-एक शब्द याद हो गया।

रमेसुर का पत्र लाखो के दिन-रात का अभिन्न हो गया। बडका-छुटका उसे 'माई' कहते तो उसे याद आता, 'आपको देखकर मा की याद बहुत आय गई ··' फूटे दर्पण मे मुख देखती तो कानो में बज उठता, 'आप हंसती हो तो गोड़ छू लेवै का जी होय उठना है···' और कलुआ से गाली और मार खाने पर बार-बार ध्यान मे गूंजता, 'हम आपको कभी नाही भूल सकत है···कभी नाही भूल सकत है ··कभी नाही भूल सकत है···।'

अनारकली

तालियों की गड़गड़ाहट से हाल देर तक गूंजता रहा।

कलकत्ते के नेशनल कॉलेज द्वारा प्रस्तुत 'अनारकली' नाटक अप्रत्याशित रूप से सफल रहा। नायिका थी शिप्रा सेन और नायक सुव्रत मजूमदार। बी० ए० फाइनल के ये दोनों छात्र और छात्रा वैसे भी चर्चा के विषय थे। तन्वंगी सुकुमारी शिप्रा सेन प्रख्यात बैरिस्टर श्री क्षितिमोहन सेन की एकमात्र लाड़ली थी। जिस शानदार कार में कॉलेज जाती, उसमें वर्दीधारी शोफर के साथ वर्दीधारी अर्दली भी होता। कॉलेज के अहाते में कार रुकती, अर्दली तत्परता से कार का दरवाजा खोलता और नागिन-सी वेणी झुलाती उतरती शिप्रा सेन कोमल परिधान में अपने कोमल गात को सजाए, रूप की वैभवमयी प्रतिमा-सी! छात्रों के दल प्रतिदिन उस क्षण की प्रतीक्षा करते। चांदनी से उजले रंग और काजल-सी कजरारी आंखों वाली शिप्रा सेन बंगला उपन्यासों में वर्णित नायिका-सी भुवन मोहिनी थी।···

सदा फर्स्ट पोजीशन पाने वाला सुव्रत मजूमदार गजब का मेधावी था। बुद्धि से प्रदीप्त नेत्र और 'सेल्फ कान्फिडेन्स' की मुस्कान। सादे पैंट और शर्ट में भी उसका स्वस्थ शरीर आकर्षक लगता। अध्यापक उससे स्नेह करते और छात्र उसका आदर। निर्धनता का अभिशाप झेलता सुव्रत अपनी बुद्धि में चुनौती लिए बढ़ रहा था।

अनारकली अभिनीत करने के लिए जब शिप्रा और सुव्रत को चुना गया तो कॉलेज में सनसनी-सी फैल गई। और जब वास्तव में अनारकली स्टेज पर प्रस्तुत हुआ तो वह सनसनी मुग्ध हो गई। नाटक के अन्तिम दृश्य में ईंटों के बीच चुनी जाती, सलीम से बिछु-

इनों अलविदा कहती अनारकली की आखो से सचमुच आसू बरस रहे थे।''''क्या स्वाभाविक अभिनय किया है मिस सेन ने भई वाह'''' कहते छात्रों के दल शिप्रा की अभिनय-क्षमता पर न्यौछावर हुए जा रहे थे।

सुव्रत भी हल्का नहीं पडा था। शाहजादा सलीम के रूप मे वह जब-जब अनारकली के निकट गया, उसे प्रतिदिन देखने वाले भी भूल गए कि वह सुव्रत है। सुव्रत की प्रतिभा का लोहा मानने वाले अध्यापक व छात्र उसकी अभिनय क्षमता का भी लोहा मान गए।

ऑल इडिया ड्रामाटिक्स काम्पटीशन मे भी नेशनल कॉलिज कलकत्ता का अनारकली विजयी रहा। अनारकली और सलीम के 'मेकअप' मे शिप्रा सेन और सुव्रत मजूमदार के चित्र देश भर के समाचार पत्रो मे अकित हो गए!

तभी शिप्रा सेन को लगा कि सुव्रत उसके निकट सचमुच शाहजादा सलीम बन चुका है। शिप्रा की धडकनें उसके वश मे न रहीं। उधर सुव्रत भी सोते-जागते अनारकली के सपने देखने लगा। उसका भी मन अब उसकी बुद्धि के वश मे न था।

पूर्णिमा की रस भीगी रात मे, लेक के किनारे तक टहलते शिप्रा और सुव्रत जनम-जनम के लिए एक दूसरे के बने रहने का व्रत ले बैठे। उस रात जीवन के स्टेज पर अनारकली के प्रणय दृश्य एक बार फिर अभिनीत हुए। ''

शिप्रा ने बेहद डरते-डरते बैरिस्टर पिता से अपने मन की बात कही। वह सुव्रत से विवाह करने की इजाजत चाहती थी। बैरिस्टर साहब कॉफी पी रहे थे। शिप्रा की प्रार्थना के उत्तर मे उन्होने कॉफी के प्याले को फर्श पर पटक दिया। शिप्रा को उत्तर मिल गया। कॉफी के टूटे प्याले के साथ उसके प्राणों मे पलता सपना भी टूट गया।

किन्तु शिप्रा भी आखिर अपने बाप की बेटी थी। जिद उसे पिता से ही विरासत मे मिली थी। 'या तो ये प्राण सुव्रत को समर्पित होंगे *अन्यथा रहने ही नहीं,* नींद की गोलिया खाकर शिप्रा ने आत्महत्या

…मजूमदार की जलती आंखों से उन्हें सख्त आपत्ति थी ।

'लेकिन सुव्रत…'

'मजूमदार कहिए, मैडम !'

इतनी अभद्रता—श्रीमती शिप्रा मुखर्जी ने अपने होंठ काट लिए, 'देखिए मिस्टर मजूमदार यह मेरा सामना नहीं कर सकता, अब यदि आप इस सीट के लिए 'विदड्रा' कर लें तो…'

आंखें अब भी कजरारी हैं पर उनमें मद के स्थान पर केवल विपक्षी से लोहा लेने की सतर्कता है, श्री मजूमदार ने उड़ती दृष्टि से देखा—'प्रेस्टिज' का प्रश्न तो मेरे आदर्श, मेरे व्रत का भी प्रश्न है ।'

'व्रत'…बरसों पहले की लेक के किनारे की पूर्णिमा की एक भीगी रात शिप्रा मुखर्जी की स्मृति में चिहुंक कर रह गई…।

'ये ऐसे नहीं मानेगा इसे तो गुंडों से पिटवाना चाहिए' अप्रकट ये तिलमिलाती श्रीमती मुखर्जी आपा खो बैठी—'तब ठीक है मिस्टर मजूमदार, मैं भी हार नहीं मानूंगी । थैंक यू, मैं चलती हूं ।'

तीसरी सिगरेट सुलगाते मजूमदार ने व्हिस्की की पूरी बोतल बिना सोडा मिलाए गले में उलट ली । उनकी अचेत होती चेतना में जाने कहां से एक बंदरिया उछल रही थी…और फिर रात भर उसके सपनों में अनारकली और बंदरिया एक दूसरे में गड्डमड्ड होती रहीं ।…

दुल्हन

देव कहते हैं—मैं सुन्दर हूं, बहुत सुन्दर ! दर्पण उनके कथन की दाद देता है। सच कहूं तो दर्पण में अपनी मोहक छवि को निहारकर मुझे स्वयं पर प्यार आ जाता है।

सौन्दर्य के मुकुट-सी कुन्तल-राशि, पलकों की रेशमी चिलमन में आंख-मिचौली खेलते आयत लोचन, खिले गुलाबों का भ्रम जगा देने वाले गुलाबी कपोल, चांदनी में घुल जाने वाली स्निग्ध शुभ्र कान्ति, अजन्ता के किसी मोहक चित्र को सजीव करती-सी अंग-यष्टि—देव कहते हैं मैं वास्तव में निरुपमा हूं, मेरा नाम सार्थक है!

मेरे स्वामी श्री देवकुमार राय प्रसिद्ध चौधरी वंश के कुलदीपक है। पीढ़ियों से चली आती जमींदारी और पीढ़ियों से चला आता रोब-दाब। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन होने पर भी हमारे घराने का रोब-दाब कम न हुआ। हम पर आज भी लक्ष्मी की कृपा है।

देव का व्यक्तित्व भी कम प्रभावशाली नहीं। प्रशस्त ललाट, दीप्त नेत्र, सुघट चिबुक—वे किसी राजपूत सेनानायक से तेजस्वी हैं। मेरा रूप और उनका तेज—देव महास कहते हैं कि पिछले किसी जन्म में वे पृथ्वीराज रहे होंगे और मैं संयोगिता।

विवाह के बीस वर्ष के बाद आज भी देव मेरे रूप की अभ्यर्थना करते हैं—'जानेमन' बन्दा तो तुम्हारे इस रूप का गुलाम हो गया वरना चौधरीवंश के मर्द बीबी के आंचल से बंधकर रहने वाले नहीं।' बिल्कुल ठीक कहते हैं वे, हमारे वंश के मर्द सुरा और सुन्दरी का उपभोग मूछों पर ताव देकर करते रहे हैं।

किन्तु देव मेरे इस दीपशिखा से रूप के ही शलभ रहे आए। मेरे अनिंद्य रूप पर उनका पौरुष मुग्ध रह आया, उनके सुदृढ़

आलिंगन में सिमटकर मेरा नारीत्व सार्थक होता रहा ।

विवाह की बीसवीं वर्षगांठ पर मुझे अपने आलिंगन में समेटते देव की आंखों में प्रणय झूम उठा था—'तुम्हारे रूप के चन्द्र को आयु का ग्रहण कभी न लग पाएगा, निरू । तुम अप्रतिम रूपसी ही नहीं, अक्षय यौवना भी हो ।' सच ही तो है, कौन कहेगा कि मैं एक षोडशी कन्या की मां हूं ।

पुत्री नन्दिता सोलह की हो चली और पुत्र आशीष बारह का—तो हम उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए अपना छोटा-सा गांव छोड़कर महानगर कलकत्ता चले आए । कलकत्ते में हमारी कोठी थी ही । नौकर-चाकर, रसोइया, शोफर सब हमारे साथ गांव से आ गए । कलकत्ता पहुंचने पर केवल एक ही कमी थी—धोबी की, भला धोबी गांव से कैसे साथ आता ।

मैं दर्पण के सन्मुख अपने को संवार रही थी । सदा से साथ रहे आए वृद्ध नौकर हरीराम ने आकर सूचना दी—'रानी मां, एक धोबी आया है, ज़रा बात कर लीजिए ।' मैं बाहर आई, देखा, चिकन की दुपलिया टोपी लगाए, तहमद पर लम्बा कुरता पहने, बड़ी-बड़ी मूछोंवाला एक दुबला-पतला, काला निहायत मामूली-सा आदमी है । शक्ल से धोबी नहीं साज़िन्दा-सा लगता है—मैंने सोचा । उसने मुझे देखकर झुककर लम्बा सलाम किया । 'तुम्हारा नाम'—मैंने पूछा । हुज़ूर गुलाम को इब्राहीम कहते हैं—उसने फिर सलाम किया । मुझे वह जंच गया था ।

इब्राहीम हमारे कपड़े धोने लगा । उसका काम मुझे ही नहीं देव को भी पसन्द था । वक्त के पाबन्द और काम के चौकस इब्राहीम से हमें कोई शिकायत नहीं थी ।

एक दिन धुल आए कपड़ों का हिसाब देते वह रुका, जयपुरी चुनरी की साड़ी को उठाकर बोला—'सरकार ऐसी एक साड़ी मुझे ला दीजिए ।' 'क्या करोगे'—मुझे आश्चर्य हुआ । 'सरकार दुल्हन के लिए लूंगा । वो ज़रा काली है, उसके काले रंग पर ऐसी लाल रंग की साड़ी बहुत अच्छी मालूम होगी । ला `गीं न सरकार ? पैसे

हिसाब में काट लीजिएगा।' इब्राहीम ने संकोच से अटक-अटक-कर बात पूरी की। 'अच्छा ला दूंगी, पर साड़ी कीमती है, इतनी कीमती का क्या करोगे,'—मैंने समझना चाहा। 'हुजूर दुल्हन के लिए चाहिए न, आप कीमती की परवाह मत कीजिए'—इब्राहीम के स्वर में ललक थी।

तो क्या इसकी दुल्हन नवेली वधू है, शायद बड़ी उम्र में अब शादी की है तभी यह हाल है—मैंने सोचा। पूछे बिना न रहा गया—'क्या अभी-अभी शादी की है ?' इब्राहीम ऐसा सकुचा गया जैसे नया दुल्हा हो—'नहीं सरकार, शादी को तो जमाना गुजर गया। खुदा ने औलाद दी होती तो आज बराबर की होती।' इब्राहीम के जाने के बाद मैं देर तक दुल्हन के बारे में सोचती रही थी। मैंने वैसी साड़ी उसे ला दी और पैसे हिसाब में काट लिए।

इब्राहीम साइकिल पर कपड़े लाता ले जाता था। उस दिन वह पीठ पर ही गट्ठर लादे आ गया तो मुझे आश्चर्य हुआ—'क्यों भई, तुम्हारी साइकिल को क्या हो गया ?' 'क्या बताऊं हुजूर ? दुल्हन ऐसी बीमार पड़ी कि कुछ न पूछिए। सेन साहब को दिखाया तब बची और इस गुलाम के पास साइकिल को छोड़कर और था ही क्या जिससे फीस चुकाता। लेकिन कोई बात नहीं, बन्दे को पैसे का कोई गम नहीं। दुल्हन सलामत रहे मुझे और कुछ नहीं चाहिए।' इब्राहीम के स्वर में वही आवेग था जो देव के स्वर में होता था। डॉक्टर सेन कलकत्ते के प्रसिद्ध डॉक्टर थे और उनकी फीस चौंसठ रुपये थी।

अब मैं दुल्हन को देखने को उत्सुक हो उठी थी। अवश्य ही इब्राहीम की दुल्हन रूप में दुल्हन होगी, सोलहों में उतर आया चांद का टुकड़ा होगी, पूरे पर खिला गुलाब होगी तभी न···तभी न···

अगली बार जब इब्राहीम आया तो मैंने दुल्हन को देखने की इच्छा व्यक्त की। 'जरूर, जरूर सरकार, जरूर लाऊंगा उसे हुजूर की कदमबोसी के लिए। मैं तो खुद लाना चाहता था लेकिन

हिम्मत नहीं पड़ती थी आपसे इजाजत मांगने की' इब्राहीम ने ऐसा हुलसकर कहा कि लजाती, सकुचाती एक परी-सी दुल्हन ही मेरे सन्मुख साकार हो गई।

उसी बीच मैंने नेपाल की उस रानी की कथा पढ़ी जो अपने अनिंद्य रूप के कारण अपने स्वामी को अत्यन्त प्रिय थी। किन्तु चेचक के प्रकोप के कारण रूप गंवाकर पति का प्यार भी गंवा देने की आशंका से जिसने आत्महत्या कर ली थी। रूप और प्रेम का चोली दामन का-सा साथ होता है—विश्व की अनेक प्रसिद्ध प्रेम कथाएं इसका प्रमाण हैं·· वार-वार सोचती मैं अपने रूप के प्रति और भी सावधान हो उठी थी।

देव से मैंने इब्राहीम की दुल्हन की चर्चा की तो वे प्रसन्न हो उठे—'हमारे धोवी को भी अल्लामियां ने वैसी ही परी वख्श दी होगी जैसी हमें दी है। पुरुष तो रूप का पुजारी होता ही है, चाहे वह इब्राहीम धोवी हो या श्री देवकुमार राय।' इब्राहीम रविवार को दुल्हन को लाने के लिए कह गया था। मुझे वहुत प्रतीक्षा थी, चाहती थी कि देव भी दुल्हन को देख लें।

नियत समय पर इब्राहीम आया। उसके पीछे-पीछे काले वुरके में दुल्हन थी। इब्राहीम ने झुककर सलाम किया। मेरा हृदय वुरी तरह धड़क रहा था। 'दुल्हन वुरका उठा दो और सरकार को सलाम करो। आप ही हमारी मालिक हैं।' इब्राहीम के स्वर में प्रसन्नता का आवेश था। दुल्हन ने वुरका उतारकर अलग रख दिया, झुककर सलाम किया और फूहड़ता से हंस दी। वह वही जयपुरी चुनरी पहने थी। उत्सुक आंखों के सन्मुख था एक वेडोल, ढला नारी शरीर, काला स्याह रंग, सौन्दर्य के प्रश्न चिह्न-सी भद्दी नाक, पर कटाक्ष करती-सी तिरछी आंखें, लावण्य की हंसी उड़ाते निचले होंठों पर रखे वड़े-वड़े दांत···देव ने भी दुल्हन को चिक में से देख लिया होगा, वे भीतर कमरे में ही तो थे।

दुल्हन के सलाम के प्रत्युत्तर में मैं अवाक् थी। भीतर से देव की आवाज़ आई। 'मुझे देर हो रही है ज़रा 'ड्रेस अप' करने में मदद

कर दो।'

मैं भीतर गई तो सिर चकरा रहा था। देव ने मुझे थाम लिया—'क्या गश आ रहा है जानेमन? अरे, ऐसे ही तो हमें भी तुम्हें देखकर गश आ गया था। लो तुम्हें एक फड़कता हुआ नायाब शेर सुनाए जो तुम्हारे इब्राहीम मिया और उनकी दुल्हन पर बिलकुल फिट बैठता है

हथिनी की कमर पर खते लाठी से लिखा था
मरता हू मेरी जान तेरी पतली कमर पर

अब जल्दी से कुछ दे दिलाकर इन्हें यहाँ से विदा करो, वरना मुझे भी गश आ जाएगा।' देव व्यग्य से हसते बाहर चले गए।

मेरी तबियत सचमुच खराब हो गई थी। दिल अब भी धड़क रहा था। दुल्हन के हाथो मे पाच का नोट देते मैंने इब्राहीम की ओर देखा—उसके मुह पर दुल्हन की प्रशसा सुनने का आतुर भाव छलका पड रहा था, लेकिन मैं तो गूगी हो गई थी।

उस दिन को भी तो तीन वर्ष बीत गए। इब्राहीम अब भी हमारे कपड़े धोता है, दुल्हन के लिए मुझसे कीमती साडिया मगवाता है और अब दुल्हन के लिए जडाऊ बालिया लेना चाहता है।

देव अब भी कहते हैं कि मैं सुन्दर हू—बहुत सुन्दर। दर्पण अब भी उनके कथन की दाद देता है। लेकिन अब जब भी मैं दर्पण के सम्मुख खडी होती हू तो मेरे पार्श्व मे दुल्हन भी जरूर आ खडी होती है।

सती

यदि कवि-दृष्टि से नामकरण किया जाता तो भी यह विवाद का विषय होता कि उसका नाम चम्पकलता रखा जाय या मृगनयनी। खिले चम्पा के फूल-सा रंग और चकित मृगी-सी आंखें···! घने, अत्यन्त काले केशों की परिधि में उसके मुख की सुनहरी आभा और भी सुनहरी लगती और उस सुनहरी आभा की पृष्ठभूमि में गहरी काली आंखें और भी अधिक काली। किन्तु उसका नाम कनका था, केवल कनका, कनकलता भी नहीं। शहर के बाहर बसी झोंपड़ियों की बस्ती की कनका, घूरे पर खिला गुलाब थी।

वृद्धा नानी की एकमात्र नातिन थी कनका। नानी और नातिन दोनों का ही इस संसार में एक दूसरे को छोड़ और कोई तीसरा न था। नानी ने नातिन को कलेजे से लगाकर पाला था। नातिन के इतने ढेर सारे रूप का शृंगार करने के लिए नानी के पास और तो कुछ भी न था, किन्तु कुदृष्टि से बचाने के लिए नानी कनका के माथे पर काला टीका लगाना कभी न भूलती। अब बेचारी नानी को क्या पता था कि दमकते माथे पर कुदृष्टि से बचाने के लिए लगा टीका ही देखने वालों की दृष्टि बांध-बांध लेता था।

पांच वर्ष की कनका कब पन्द्रह की हो गई, यह न कनका जान पाई न नानी। नानी यही सोचती कि कनका का लहंगा ऊंचा नहीं हुआ है, मरे दर्जी ने ही कपड़ा चुरा लिया होगा। और बस्ती में सदा निर्द्वन्द्व घूमती कनका को इमली अब भी उतनी ही खट-मिट्ठी लगती थी। आभूषण के नाम पर नाक में पहनाई गई लाल पत्थर की चार आने की कील, कनका की सोनजुही-सी नासिका पर मणि-सी जगमग करती। वयःसन्धि की अलबेली

अवस्था मे वह जगमगाहट इतनी बढ़ गई कि बस्ती वाले पांच और पन्द्रह के अन्तर के प्रति नानी को सचेत करने लगे। किन्तु ऐसी राजकुमारी-सी नातिन का हाथ नानी किसी भी ऐरे-गैरे के हाथ में कैसे दे दे? क्या मेरी राजकुमारी को कोई राजकुमार नहीं मिल सकता ··नानी की धुंधली आंखों मे एक सपना जाग उठा। नानी यथा-शक्ति प्रयास करने लगी, किन्तु असहाय, निर्धन वृद्धा केवल प्रयासों के बल पर क्या पा सकती थी?

एक दिन बस्ती के तालाब के किनारे बैठी कनका अपनी एड़ियों को पत्थर के टुकड़े से रगड़कर चमका रही थी। भीगी साड़ी में गात की एक-एक रेखा स्पष्ट थी। भीगी लाल साड़ी मे से छनती शरीर की चम्पई आभा उस मोटी-झोटी साड़ी को रेशमी बनाए दे रही थी·· तभी एक विदेशी पर्यटक कीमती कैमरा लटकाए उस ओर आ निकला। कनका को उस 'पोज़' मे देखकर वह उसे अपने कैमरे की आंख मे भर लेने के लिए आतुर हो उठा। उन्नत वक्ष और पुष्ट नितम्बों के मध्य क्षीण कटि और भी क्षीण लग रही थी···और सब कुछ बिलकुल नैचुरल···'ए मिलियन डॉलर फिगर।' पर्यटक की दृष्टि लोलुप हो उठी। यदि यह सुन्दरी एक 'पोज़' दे दे तो अमरीका की 'मॉडल गर्ल्स' पानी भरने लगें··। पर्यटक ने दस का नोट निकाला और सीटी बजाता, नोट हिलाता कनका की ओर बढ़ा। कनका अब भी अपने में मगन थी कि उसकी समवयस्का सखी गंगा 'उई मां' कहती उसमें आ लगी। पर्यटक सीटी बजा रहा था, नोट हिला रहा था, भाषा की दुविधा को आंखें नचाकर मिटाना चाह रहा था। उसने कनका की बांह पकड़-कर उठाया और नोट उसकी भीगी हथेलियों में ठूंसकर हंस पड़ा। अभी हंसी थमी भी न थी कि उसी भीगी हथेली का एक भरपूर थप्पड़ उसके गाल पर पड़ा, दस का नोट कई टुकड़ों में टूटकर उसके मुख पर उड़ती हवाइयों के साथ उड़ने लगा। थप्पड़ की आवाज अभी भी हवा मे गूंज रही थी। झोंपड़ी की ओर लौटती गंगा ने सहमकर कहा, 'अरी कनका, तूने तो दस का नोट ऐसे फाड़ दिया

जैसे रद्दी कागज़ हो। अगर सौ का होता तो…।' 'सौ का होता तो थप्पड़ और ज़ोर का लगाती, तुझे लगाकर बताऊं ?' और इमली चूसती कनका ऐसी निश्चिन्तता से हंसी जैसे कुछ हुआ ही न हो। कनका का यह रूप गंगा के लिए भी अप्रत्याशित था। कनका अपनी निश्चिन्तता में मगन रही आई, गंगा सहमकर चुप हो गई। बस्तीवालों को उस घटना का पता भी न लगा।

तभी शहर का बदनाम गुंडा नागन, तीसरी बार जेल से छूटा तो सीधा कनका की बस्ती में रहने चला आया। काला डरावना आकार, लाल आंखें और बिच्छू के डंक-सी नोकदार मूंछें। बस्ती के बच्चे उसे देखकर सहमकर रोने लगते और कुत्ते घबराकर भौंकते। नागन की हिंस्र दृष्टि कनका के अछूते यौवन पर पड़ी, वह एक गुनाह और करने के लिए आतुर हो उठा!

गर्मी की दोपहर सांय-सांय कर रही थी। पेड़ों के पत्ते तक स्तब्ध थे। बस्ती के सारे पुरुष और अधिकांश स्त्रियां मजूरी के लिए जा चुके थे। नानी भी प्रतिदिन की भांति मजूरी करने गई थी और कनका अपनी झोंपड़ी में ऊबी-सी, ऊंघ कर दोपहरी काटने का प्रयास कर रही थी। तभी कनका के साथ छाया-सा घूमने वाला कुत्ता झोंपड़ी के द्वार पर पूरी शक्ति से भौंकने लगा, सामने पीपल के पेड़ पर गौरैया का जोड़ा पंख फड़फड़ाकर चीत्कार कर उठा, कबूतरी-सी कनका को नागन ने बाज-सा दबोच लिया। नागन की वज्र-पकड़ से छूटने के लिए छटपटाती संघर्ष करती कनका ने मूर्च्छित होकर ही समर्पण किया…।

प्रतिदिन की भांती सांझ ढलने पर नानी लौटी तो कूं-कूं करता कुत्ता उसकी टांगों में लिपट गया। झोंपड़ी में अब भी इतना प्रकाश था कि मूर्च्छित कनका को रक्त से सने कपड़ों में देखकर नानी के लिए कुछ भी समझना शेष न रहा। असहाय वृद्धा ने अपनी छाती पीट डाली, बाल नोच डाले।

बात फैली और दबा दी गई। भला कौन उस खूंखार दुष्ट नागन से वैर मोल लेता ? लोगों ने नानी को समझाया कि अब तो

वह जल्दी से जल्दी कनका की रक्षा का उत्तरदायित्व जो भी मिले, उसे सौंप दे।

उस मूर्च्छा से होश में आने के बाद कनका केवल मौन हो गई। न वह रोई न उसने किसीसे कुछ कहा, केवल उसकी आंखों में वह निर्द्वन्द्वता न रही, नानी और नातिन के बीच भी वह अभिशप्त मौन मंडराने लगा।

नानी ब्याह की बात पक्की करने का प्रयास कर रही थी कि एक प्रात: कनका उसके निकट आ खड़ी हुई और बोली, 'नानी मैं दूसरी जगह ब्याह नहीं करूंगी।'

नानी की समझ में कुछ न आया, 'दूसरी जगह क्या री, अभी तेरा ब्याह हुआ ही कहां है?'

'मैंने कहा न, मैं दूसरी जगह ब्याह नहीं करूंगी, मैं नागन के साथ रहूंगी,' कनका ने स्पष्ट शब्दों में बात स्पष्ट की।

नानी मानो आसमान से गिरी। उनकी समझ में फिर भी कुछ नहीं आया, चीखकर बोली, 'अरी मुंहजली, नागन के साथ क्या भाड़ झोंकेगी? उस गुंडे बदमाश के साथ रहेगी जिसने तेरी इज्जत खराब की!'

'इज्जत तो मेरी तब खराब होगी जब मैं नागन को छोड़ दूसरे का हाथ पकड़ूंगी। अब तो वही मेरा मरद है।'

'इज्जत' की यह नवीन परिभाषा सुनकर नानी स्तब्ध रह गई। नानी नातिन की जिद से अपरिचित न थी, वह समझ गई कि अब कनका को ब्रह्मा भी उसके हठ से नहीं हटा सकते।

बस्ती वालों ने आश्चर्य और आतंक से कनका को नागन की झोंपड़ी में एकदम अकेली जाते देखा। कैसा था वह ब्याह कि बस्ती वाले आमोद के स्थान पर आतंक से सिहरते रहे। कैसी थी वह वधू जो इज्जत की अपनी, केवल अपनी परिभाषा के द्वार पर शहर के नामी गुंडे के द्वार पर परिणीता-सी जा खड़ी हुई।

नागन और कनका में क्या समझौता हुआ, यह तो कोई न जान सका, किन्तु कनका नानी की झोंपड़ी छोड़ नागन की झोंपड़ी में

रहने लगी है, यह लोगों को स्वीकार करना ही पड़ा।

और फिर समय अपनी गति से चलता रहा। नागन मुंह अंधेरे गायब हो जाता और रात गए नशे में धुत लौटता। बस्ती वाले उसके बारे में केवल इतना ही जान पाते रहे। कनका ने शहर के रईस लाला रामदयाल के यहां चौका बरतन की चाकरी कर ली। वह भी मुंह अंधेरे जाती किन्तु सांझ ढले लौट आती, और जब लौटती तो आंचल में टमाटर ज़रूर बंधे होते, नागन को टमाटर बहुत पसन्द थे।

टमाटर रुपये सेर भी बिकते तो भी कनका टमाटर ज़रूर लाती। उस दिन गंगा की शामत आई, जो कह बैठी, 'अरी कनका ऐसे तो कोई अपने खसम को भी नहीं दुलारता जैसे तू इस गुंडे की खातिर करती है। भला रुपये सेर टमाटर और वह भी तेरी पसीने की कमाई के। उस निर्लज्ज ने कभी तुझे पीतल का छल्ला भी दिया है···।'

गंगा बात पूरी कर पाती इसके पहले कनका की आंचल के टमाटर उसके मुंह पर थे, 'चुप रह री डायन, खसम और किसे कहते हैं, क्या मैंने उसे छोड़ किसी और को ताका भी है।' कनका चंडी बन गई थी।

और उस दिन तो गज़ब ही हो गया। उस गन्दी बस्ती को अप्रतिभ करती एक साफ-सुथरी मोटर-कार कनका की झोंपड़ी के ठीक सामने आकर रुकी। गाड़ी में एक बाई जी उतरीं, होंठों पर गहरा लाल रंग, आंखों में गहरा काजल, बदन पर गहरी बैंगनी साड़ी, सर से पैर तक गहनों की नुमाइश और चाल में गहरी ठसक। बाई जी सीधे कनका की झोंपड़ी में घुसीं और दस मिनट में ही चाल में ठसक के स्थान पर जान बचाकर भागने की मुद्रा लिए, भागती-सी बाहर निकलीं। पीछे कनका थी, हाथ में झाड़ू लिए, केश बिखरकर नागिन से लहरा रहे थे, आंखों से चिनगारियां छूट रही थीं। भागती बाईजी पर उनकी छोड़ी हुई जूतियां एक-

एक कर फेंकती कनका फटे गले से चीख रही थी, 'अपनी जूतियां तो खाती जा, कमीनी। मुझे सुख का पाठ पढ़ाने आई थी। ऐसे गहने कपड़ों को आग लगे, तेरे मुंह में मट्टी पड़े निगोड़ी। नागन गुंडा है, सुनते-सुनते मेरे तो कान पक गए। अरे वो गुंडा है तो हुआ करे, मैं तो हरजाई नहीं !'

कनका को उसकी पडोसिनों ने कसकर थाम लिया था अन्यथा बाईजी कनका के हाथों कुछ स्मृति-चिह्न अवश्य लेकर जातीं।

उधर गाडी में बैठी बाईजी कानों पर हाथ रखे बडबडा रही थीं, 'बाप रे बाप, औरत है कि झांसी की रानी ! अरे वो तो मैं भाग खड़ी हुई वरना आज मेरी जान की खैर नहीं थी। मैं तो भले की कहने गई थी, ऐसा हुस्न और जवानी क्या खुदा सबको देता है, और ये अभागी है कि उस गुंडे के पीछे सती हो रही है। लेकिन कुछ भी कहो, औरत है बला की खूबसूरत ! हमारे हुस्न के उस बाजार में भी इसकी-सी तो एक भी नहीं।' लेकिन तभी झाडू फटकारती कनका उनकी आंखों में कौंधी और वे ड्राइवर को गाड़ी तेज चलाने को कहती सीट के कोने दुबक गईं।

नागन को अपनी निर्ममताओं की निर्मम सजा मिली। किसी सवा सेर ने उसकी हत्या कर दी। कनका तक जब बात पहुंची तो वह केवल और भी चुप हो गई। उसने अपने ही हाथों पहना काले डोरे का मंगलसूत्र तोड़ फेंका, कलाइयों में कांच की एक भी चूड़ी न रहने दी और टमाटर लाना एकदम बन्द कर दिया।

लाला रामदयाल जी के यहां पूजा पाठ के लिए आनेवाले पंडित गौरीशंकरजी वास्तव में ज्ञानी-पुरुष थे। वे धर्म के मर्म को समझते थे। रूढ़ि नहीं, आचार की आत्मा के प्रति आस्था रखने वाले गौरीशंकरजी ने जब कनका की कथा सुनी तो अवाक् रह गए।

नागन की बरसी के दिन कनका श्राद्ध के लिए दाल, चावल, आटा आदि के साथ पांच सेर टमाटर लेकर पंडितजी की सेवा में उपस्थित हुई। इधर-उधर देखकर आंचल में से बोतल निकाली और उसे पंडितजी के सम्मुख रखती हाथ जोड़कर बोली, 'पंडितजी,

ये टमाटर और ये दारू, अभागे को ये दोनों चीजें बहुत पसन्द थीं, सो आप इन्हें स्वीकार कर लो, मुए को वहां भी तलब उठती होगी।'

पंडितजी ने कहना चाहा कि श्राद्ध में दारू नहीं दी जाती, किन्तु इज़्ज़त को नई परिभाषा देने वाली कनका को वे समझा नहीं पाएंगे, यह वे स्वयं समझ चुके थे।

नागन की मृत्यु के पश्चात् कनका पांच वर्ष और जीवित रही। प्रतिवर्ष नागन की बरसी पर टमाटर और दारू लेकर पंडितजी के पास जाती रही और फिर एक दिन पंडितजी ने सुना कि कनका भी नहीं रही।

कनका की मृत्यु का समाचार सुनते ही पंडितजी ने स्नान किया। रामायण पाठ करने बैठे। रुंधे कंठ से पढ़ा :

एकै धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा...

और रुंधे कंठ से इन्हीं पंक्तियों को बार-बार दुहराते पंडितजी के सन्मुख तुलसी की सीता नहीं कनका बार-बार सजीव होती रही।

युग-पुत्री

रचना ने कल पहली बार पी थी, इसीलिए हो सकता है वह कुछ बहक गई हो···लेकिन बेहोश तो वह कतई नहीं थी, जैसा कि मा समझी थी—वह होश में थी, बिलकुल होश में···

कैसी उन्मादक सन्ध्या थी कल की, चढ़ते नशे-सी, जिसके गुलाबी सुरूर में डूबकर रचना को लगा कि यही तो जिन्दगी है—यही तो वह जिन्दगी है जिसको उसका खूबसूरत शरीर चाहता है—हा, शरीर ही तो···शरीर से परे अपने किसी भी 'कुछ' को वह नकारती रही है। बचपन में 'ईट ड्रिंक एण्ड बी मेरी' चिल्ला-चिल्लाकर कहने वाली रचना अब निहायत शालीन स्वर में कहती है, 'लेट अस एनजॉय लाइफ एंड फॉरगेट द रेस्ट··' अपनी इस फिलॉसफी में जी लेने वाली रचना ने वह सब पा लिया था जिसे वह पाना चाहती थी। लेकिन चढ़ते नशे-से कल की रात के बाद उतरते नशे-सा आज का दिन उसके सामने ऐसे आ खड़ा होगा—यह रचना ने नहीं सोचा था।

कल की रात एक विशेष रात थी, रचना की, मिस रचना कपूर *की एक और विजय की एक और रात। ड्रेसिंग टेबुल के समक्ष खड़ी* रचना ने सावधानी से स्वय को सवारा था। मसकारा ने कजरारी आखों के तिरछे कटाक्ष और तिरछे कर दिए थे, लिपस्टिक ने गुलाबी होठों के आमन्त्रण और भी गुलाबी। शोख गुलाबी रग की नाभिदर्शना साड़ी ने रचना के अग-अग से फूटती शोखी के रंग गहरे कर दिए थे। स्लीवलेस, लो-कट चोली ने उस शोखी को मादक बना दिया था। कानों में जिप्सी रिंग्स झुलाकर, शैम्पू से धुली कधों तक बिखरी सुगधित अलकों को पतली खूबसूरत उंगलियों से बार-बार सवारती रचना स्वय को 'कॉम्प्लीमेंट्स' दे बैठी

थी। किसी कुशल चित्रकार-सी अपने गात की एक-एक रेखा को कुशल मेकअप से संवार देने वाली रचना अपने सुन्दर तराशे हुए जिस्म को बहुत प्यार करती थी। 'डायटिंग' ने उसके तराशे हुए जिस्म को तराशा हुआ ही रहने दिया था। यही जिस्म तो था जिसके सन्दर्भ में वह जीती आई थी, जीती रहना चाहती थी।

बॉस अमरकान्त ने स्टेनो रचना को अपने साथ सांझ बिताने का आमन्त्रण दिया था। रचना को ऐसे आमन्त्रण की प्रतीक्षा थी। उसके साथ और भी तो कई स्टेनो थीं, लेकिन रचना जानती थी कि बॉस उसे ही 'लिफ्ट' देगा। अपने आकर्षण पर रचना को विश्वास था।

उस शोख गुलाबी साड़ी में शोख मादक अदाओं का आमन्त्रण बनी रचना ने अमरकान्त के साथ डिनर लिया, डान्स किया और फिर उस सहजता से उसे अपना शरीर भी दिया। आलीशान होटल के उस सजे-सजाए कमरे में रचना अमरकान्त की बांहों में सहजता से डूबी रहना चाहती रही लेकिन जाने क्यों पहली बार रचना को लगता रहा, जैसे कहीं कुछ टूट रहा है···या जैसे वह किसी भंवर में डूब रही है···और उसके चारों ओर भी भंवर ही भंवर हैं··· किनारा कहीं भी नहीं। रचना के खूबसूरत कपोलों पर हंसते समय भंवर पड़ते थे जिन्हें उसके 'एडमायरर्स' सराहते न थकते थे। अमरकान्त ने भी उन भंवरों को चूम लिया था, कहा था, 'मिस रचना इनमें डूब जाने को जी चाहता है···' लेकिन अमरकान्त की बांहों में डूबी रचना को स्वयं ही किसी भंवर में डूबने का भ्रम होता रहा···उन्माद के गुलाबी क्षणों को काली परछाइयां घेरती रहीं··· किसी पुरुष की अंकशायिनी बनने में क्या यही उबा देने वाला सुख मिलता है··सोचती रचना ने अपने ठंडे होते जिस्म को गर्म करने के लिए पहली बार पी थी।

फिर अमरकान्त की बांहों का सहारा लेकर वह लड़खड़ाती कार में आकर बैठ गई थी। अमरकान्त के कन्धे पर सिर टेके रचना अधखुली आंखों से शायद सपना ही तो देख रही थी। अभी कुछ क्षण पहले वह अमरकान्त के कितने निकट थी···इतने निकट

जितना एक पुरुष के एक नारी ही हो सकती है···क्या यह एक पुरुष और एक नारी का सम्बन्ध था या एक बॉस और स्टेनो का, स्टेनो—जो सेक्रेटरी होना चाहती है। बॉस कीमत लेना जानता है, स्टेनो कीमत देना जानती है और वे दोनों ही इस स्थिति को 'एनजॉय' करना भी जानते हैं—कितना साफ बेबाक समझौता है, सौदा नहीं सिर्फ समझौता। रचना हंसी, किसी टूथपेस्ट के विज्ञापन-सी उसके मोती से दांतों की इसी हंसी ने उसे मुंहमांगी जिन्दगी दिलाई है। अभी भी वह उस पुरुष के कंधे पर सिर टेके है और अपनी खूबसूरत उंगलियों से उसका स्टीयरिंग व्हील पर रखा रोयेंदार हाथ इत्मीनान से सहला रही है, फिर भी उसे बार-बार लग रहा है जैसे उसके साथ जबर्दस्ती की गई हो। रचना जानती है किसीने उसके साथ कोई जबर्दस्ती नहीं की···न अमरकान्त ने न और किसीने। तो फिर क्या रचना ने स्वयं अपने साथ जबर्दस्ती की है···रचना चौंककर देखती है उसकी नायलॉन जॉर्जेट की एन्टी-क्रीज साड़ी ऐसी क्यों लगती है जैसे कुचल दी गई हो ··ओह!

घर पहुंचकर अमरकान्त को 'स्वीट ड्रीम्स' कहती रचना ऐसी चुक गई थी कि उसका जी चाहा वह सीढ़ियों पर ही बैठी रह जाए, रात के इस नीरव अंधकार से घिरी। घर कहां है उसका, वह तो स्वयं चौरस्ते पर लगा, नियॉन लाइट से घिरा एक जगमगाता विज्ञापन है। यह जगमगाहट और यह चौरस्ता···क्या सोचे जा रही है वह, रचना ने अपने सिर को एक झटका दिया, तभी मां ने दरवाजा खोलकर पुकारा था, 'रचना'।···लड़खड़ाती सीढ़ियां चढ़ती रचना मां से भी 'स्वीट ड्रीम्स' कह बैठी थी और फिर दांतों से जीभ काटती अपने कमरे में पहुंचकर बिस्तरे पर ढेर हो गई थी।

कल शनिवार की सांझ थी, आज रविवार का सवेरा है। रचना की आंख खुलती है। ढेर सारी धूप कमरे में भर चुकी है। रचना रिस्टवाच देखती है, ओह! नौ बज गए···रिस्टवाच देखते-देखते रचना अपनी कोमल कलाई देखने लगती है और उसे अमरकान्त का रोयेंदार हाथ याद आ जाता है···मां की पदचाप सुनकर रचना सिर

तक चादर खींचकर ऐसी हो जाती है जैसे गहरी नींद में हो। मां आती है, उसके निकट चुपचाप खड़ी रहती है, फिर धीरे-धीरे लौट जाती है। रचना को लगता है जैसे मां एक प्रश्न लेकर आई थी और फिर अपने प्रश्न की निरर्थकता को उत्तर मानकर लौट गई है। रात रचना को बिस्तर पर लिटाते मां ने कहा था, 'तो तूने आज शराब भी पी है, तू होश में नहीं है।' मां के उस स्वर में क्या था, क्रोध या घृणा ? कुछ भी तो नहीं था उस स्वर में, था केवल एक ठंडापन, जिससे बिस्तर पर लेटती रचना जमकर रह गई थी।

मां को चुपचाप कमरे से लौटती देखकर रचना का जी चाहता है कि वह मां को बुला ले, अपने निकट बैठाकर उससे बातें करे, ऐसी बातें जिससे यह ठंडा अंधेरा दूर हो जाए···लेकिन अंधेरा है ही कहां, इतनी सारी तो धूप भरी है कमरे में, रचना चादर उतार फेंकती है। मां ने कल कहा था कि वह होश में नहीं है, वह तो पूरे होश में थी। होश में तो यह मां नहीं रही है—जीवनभर।

रचना ने जिस वर्ष सीनियर कैम्ब्रिज पास किया था, पिता उसी वर्ष रिटायर हो गए थे। विदेशी भाषा को विदेशी 'एक्सेन्ट' से बोलने वाली 'स्मार्ट' लड़की को 'जॉब' मिलने में कठिनाई नहीं होगी, पिता जानते थे। रूढ़ियों में बंधी मां रचना के हाथों में विवाह की बेड़ियां डाल देना चाहती थी लेकिन रचना अपने उन कोमल हाथों को स्वतन्त्र ही रखना चाहती थी। अंग्रेजी उपन्यास पढ़नेवाली, अंग्रेजी फिल्म देखनेवाली, धाराप्रवाह अंग्रेजी बोलनेवाली रचना ने मां को हतप्रभ करके छोड़ दिया था। पिता एकाउन्टेन्ट रहे थे अतः परिवार के लिए रचना के अस्तित्व के आर्थिक पक्ष का हिसाब उनके लिए महत्त्व रखता था। थके-हारे रोगी पिता का यही महत्त्व रचना की महत्वाकांक्षा बन गया। रचना को एक विदेशी कम्पनी में स्टेनो का स्थान पा लेने में कोई दिक्कत नहीं हुई। कजरारे कटाक्ष फेंकती, गुलाबी आमंत्रण बिखेरती मिस रचना कपूर 'लेट अस एनजॉय लाइफ एंड फॉरगेट द रेस्ट' की 'फिलॉसॉफी' लिए जीवन से खेलने लगी। यह खेल बड़ा रोमांचक था, सार्थक भी। प्रतिदिन अपना नख–

शिख संवारकर सारे दिन साथी पुरुषों की याचक दृष्टि का केन्द्र बने रहना रचना को प्रतिक्षण उल्लसित रखता। प्रतिमास मा के हाथ में डेढ़ सौ रुपये पकड़ाकर उसने जैसे मा का और अपनी जिम्मेदारी का मुंह बन्द कर दिया था। रचना को तीन सौ मिलते थे। आधे वह मा को देती थी, आधे अपने लिए रखती थी। उसे सन्तोष था कि वह अपने माता-पिता, दो बहनों और एक भाई वाले परिवार को पाल रही है।

जिस वर्ष रचना ने नौकरी आरम्भ की थी, उसी वर्ष मा फिर उलटियां करने लगी थी। उस दिन मा की तबियत इतनी खराब थी कि रचना को 'ब्रेकफास्ट' नहीं मिल सका। 'अब बस भी करो मां यह सिलसिला, क्या अपने साथ मुझे भी मारोगी'—तिक्त स्वरों में कहती रचना तेजी से सीढ़ियां उतरती चली गई थी। यह क्या कह गई थी मा से, लेकिन ठीक ही तो कहा है उसने। मा अब भी बच्चे पैदा किए जाएगी तो पालेगा कौन। ये लोग 'प्रैक्टीकल' होना नहीं जानते। रात को रचना मा से आगे नहीं मिला सकी थी, न मा ही रचना से। मा ने अर्चना को जन्म देकर 'ऑपरेशन' करवा लिया था। अब यह अर्चना न होती तो—रचना सोचती है, खर्च में कितना फर्क पड़ता, वह एक साड़ी प्रति मास और ले सकती। लेकिन अर्चना को वह प्यार भी बहुत करती है, चाहती है कि उसे खूब पढ़ाए, डॉक्टर बना सके···

'लाइफ' में 'सैटिल' होने पर रचना ने स्वयं के बारे में सोचा था। उसके उष्ण रक्त में कामना जाग चुकी थी लेकिन इस कामना का सौदा विवाह से करना उसे मंजूर न था। और फिर अभी जल्दी क्या है···?

खटाखट टाइप कर रही रचना की बगल में सुधीर आ खड़ा हुआ था, 'मिस कपूर, आज शाम को कॉफी के लिए कम्पनी देंगी?' रचना ने पलभर रुककर देखा था, बिलकुल फिल्मी हीरो-सा 'हैंडसम' था वह···बस यही 'क्वालिफिकेशन' काफी थी। फिर एक शाम क्या अनेक शामें उनकी साथ-साथ कॉफी सिप करते हुए बीती थीं। शायद वे विवाह की सोचते, लेकिन एक शाम रचना बॉस के

चली गई। इतनी-सी बात को लेकर सुधीर ने वह हंगामा मचाया कि रचना सह न सकी। यदि प्रेम का अर्थ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का भी अपहरण है तो रचना बाज आई ऐसे प्रेम से। अब क्या वह लाइफ को एनजॉय करना छोड़ देगी ? सुधीर से शारीरिक नैकट्य के क्षणों में रचना केवल उन उत्तेजक क्षणों में अपने रक्त में जागी कामना की सन्तुष्टि चाहती थी···इसके परे न उसने कुछ सोचा था, न सोचना चाहती थी। 'सेक्स इज़ नो टैबू फॉर मी' अपने आपसे कह रही रचना के सम्मुख मां अनायास आ खड़ी होती, जो अब भी सीता-सावित्री की कथा आंसू बहाकर पढ़ती-सुनती है। सीता, सावित्री, मां···

सुधीर के रिक्त स्थान को भरा फीरोज़ ने। रचना को फिर लगा कि वह फीरोज़ से प्रेम करने लगी है और फीरोज़ उससे। रचना फिर एक शाम बॉस के साथ चली गई लेकिन फीरोज ने कोई हंगामा नहीं मचाया। अब, प्रेम का क्या यह अर्थ है कि ऐसी नाजुक बात पर भी प्रेमी कोई आपत्ति न करे ? रचना फिर सह न सकी, बाज आई ऐसे निर्वैयक्तिक प्रेम से। फीरोज़ को अपना शरीर देते रचना को लगा था कि वह कुछ बिखरने लगी है ··बिखरी जा रही है···उस संतुष्टि में जाने कैसी एक मरीचिका-सी असंतुष्टि जाग उठी थी···बांहों के भंवर में डूबने की कामना के साथ किनारे का एक स्वप्न भी जाग उठा था। लेकिन जिन्दगी को खुली आंखों से देखकर स्वीकार करनेवाली रचना ने उस स्वप्न को 'फुलिश' कहकर झटक दिया था।

और आज, कल की उस रंगीन रात के बाद यह सवेरा इतना बदरंग क्यों लग रहा है—चादर फेंकती रचना उठकर बैठ जाती है। क्या उसे अमरकान्त की सेज पर सोने की ग्लानि है···फुलिश,··· कदापि नहीं···तो फिर वह प्रसन्न क्यों नहीं हो पा रही है···उसने अपना पर्स खोला, वह ऑर्डर निकाला जो अमरकान्त ने कल एक चुम्बन के साथ उसके पर्स में रख दिया था···रचना अब स्टेनो नहीं, सेक्रेटरी है, वेतन में पूरे सौ रुपये की अभिवृद्धि हुई और इसके साथ बॉस के साथ अनेक रंगीन सांझें बिताने का परोक्ष निमन्त्रण

भी। इसे कहते हैं लाइफ में 'राइज़' करना···लेकिन ··लेकिन रचना खुश क्यों नहीं हो पा रही है। क्यों नहीं वह दौड़कर मा को यह खुशखबरी सुनाती, आखिर रचना की तरक्की में परिवार की भी तो खुशहाली है। अब मा को अधिक रुपये दे सकेगी, क्या यह एक बहुत बड़ी खुशी की बात नहीं, रचना को लगता है वाकई यह बड़ी खुशी की बात है। वह मा को आवाज़ देना चाहती है लेकिन उसका गला रुंध-सा जाता है। वह जानती है कि मा यह खुशखबरी सुनकर केवल एक ठंडी गहरी सांस खींचेगी जैसी वह पहले भी रचना की हर तरक्की पर खींचती रहती और रचना उस ठंडी सांस को झेल नहीं पाएगी···वह थकी-सी फिर बिस्तरे पर बैठ जाती है। सोचने लगती है कि उसकी उम्र क्या है, ट्वेन्टी-एट ओनली, अभी तो वह काफी यंग है, अभी तो वह काफी 'एनजॉय' कर सकती है और भी 'राइज़' कर सकती है। रचना को धूप बुरी लगने लगती है। वह खिड़की बन्द कर देती है, कमरा अंधेरा हो जाता है। वह 'स्विच' ऑन कर देती है। धूप की रोशनी से यह कृत्रिम रोशनी अधिक सह्य है···

रचना का ध्यान फिर अपनी नायलॉन जार्जेट की एन्टीक्रीज साड़ी पर जाता है, उसे बरबस लगता है जैसे इस साड़ी में सिकुड़नें ही सिकुड़नें हैं। दरवाज़ा बन्द कर वह साड़ी उतार फेंकती है, फिर चोली भी उतार देती है। ब्रेज़ियर और पेटीकोट पहने ड्रेसिंग टेबुल के सामने आ खड़ी होती है, डायटिंग ने तराशे हुए जिस्म को तराशा ही रहने दिया है, क्षीण कटि और उभरा वक्ष—निस्सन्देह इस सुडौल जिस्म के आकर्षण का जवाब नहीं···वह इस शरीर में ज्वार-सी जागती कामना की तृप्ति के क्षणों में भी सावधान रही है, कभी 'एबॉर्शन' की भी जरूरत नहीं पड़ी···दर्पण में रचना के पार्श्व में मां आ खड़ी होती है···सीता-सावित्री की कथा सुनकर आंसू बहाती मां, बच्चों को जन्म दे-देकर बेडौल होती मा·· मा उसे बाहर बिखरी धूप-सी असह्य लगने लगती है···

पार्वती एक

जेठ की दोपहरी सांय-सांय कर रही थी। निरभ्र नीले आसमान से धूप बरस रही थी और उस चिलचिलाती धूप में एक तपता सन्नाटा धरती से आसमान तक फैला हुआ था। तिनके को दांतों से चबाती पार्वती छत पर खड़ी आसमान को देखे जा रही थी। आसपास के टूटे-फूटे घरों की छतें सूनी थीं—भला ऐसी चिलचिलाती दोपहरी में छत पर आता भी कौन? लेकिन पार्वती को वह तपता सन्नाटा, वह चिलचिलाती धूप कुछ अच्छी लग रही थी। सूने आसमान में एक चील चक्कर काटने लगी थी···पार्वती को वह चील भी अच्छी लगी। कैसे पंख फैलाए ऊंचे-ऊंचे उड़ रही है, सोचती पार्वती ने स्वयं को देखा···काश! वह भी एक चील होती! और पार्वती को लगा जैसे उसने कोई ऊंची बात सोची हो।

तिनको को दांतों से कुतरकर थूकती पार्वती ने अपने आपको गौर से देखा। याद आया हथेली भर के गोल शीशे में आजकल जब वह अपने को देखती है तो देखते ही रह जाती है। उसे लगता है जैसे उसका सांवला रंग निखर आया है, निखर रहा है, उसकी आंखें बड़ी-बड़ी लगने लगी हैं, उसके होंठ मीठे-मीठे होने लगे हैं! कल पड़ोस का घनश्याम उसे जाने कैसी निगाहों से देख रहा था कि वह शरमा गई थी। घनश्याम बचपन से उसे 'भूतनी' कहता आया था और वह उसे जीभ निकालकर मुंह बिरा दिया करती थी। घनश्याम भी वही है, वह भी पार्वती ही है फिर ये क्या हुआ कि घनश्याम अब उसे 'भूतनी' कहने के बजाय जाने कैसी निगाहों से देखने लगता है, और उसके मुंह बिराने वाले होंठों पर अनायास लीडर फिल्म का गीत आ जाता है: 'दैया रे दैया लाज मोहे लागे···'

परसों से पार्वती का मन ऊंचे-ऊंचे ही उड़ रहा था। वो जो गली के कोने वाले मकान में रहनेवाले सेठ हरप्रसाद की लड़की अंजू दीदी है न, वो उसे 'सनीमा' दिखाने ले गई थी 'देवदास।' आंखों में ढेर-सा काजल लगाकर पार्वती अंजू दीदी के साथ सिनेमा देखने गई थी। अंजू दीदी बी० ए० में पढ़ती है, पार्वती को तो अपना नाम भी लिखना नहीं आता—तो क्या हुआ पार्वती किसीसे कम थोड़े ही है। अगर पार्वती भी अंजू दीदी-सा 'पौडर' लगा ले, 'रेशमी साड़ी' पहन ले और बन-ठनकर बातें करे तो पार्वती भी अंजू दीदी-सी लगे। लेकिन फर्क केवल इतना है कि अजू दीदी सेठ की इकलौती बेटी है और पार्वती पूरनचन्द हलवाई की तीन ब्याही बेटियों के बाद की चौथी अनब्याही बेटी है, अंजू दीदी 'मोटरिया' में बैठकर 'कालिज' जाती है और पार्वती दो कोठरियों वाले टूटे-फूटे घर में अंधी मां, तीन बरस के रिरियाते भाई लल्लू, और मैली गन्धाती धोती पहने बाबू के साथ शाम से सुबह और सुबह से शाम करती होती है।

'सनीमा' में अंजू दीदी के बगल में बैठी पार्वती कनखियों से अजू दीदी को देखती रही थी। आज तो अजू दीदी बड़ी मीठी-मीठी महक रही है—पार्वती को याद आई, बाबू की मैली धोती से उड़ती घी तेल की गन्ध'' उह पार्वती ने घबराकर आंचल नाक से लगा लिया, फिर हंसी, यहां बाबू कहां—वह तो अजू दीदी के बगल में बैठी 'सनीमा' देख रही है। पार्वती 'सनीमा' देखती रही लेकिन उसकी समझ में खाक न आया कि आखिर किस्सा क्या है। सिनेमा देखती अजू दीदी ने जब-जब रूमाल आखों से लगाया पार्वती ने भी ज़ोर से सांस भरी कि अंजू दीदी सुन लें कि वह भी रो रही है''' सिनेमा के बाद अंजू दीदी के साथ मोटर में बैठकर घर लौटती पार्वती को अंजू दीदी ने देवदास की पूरी कथा सुनाई। यह भी बताया कि देवदास पार्वती से इतना प्रेम करता था कि पारो को न पा सका तो उसने अपना जीवन नष्ट कर दिया और पारो और चन्द्रमुखी दोनों ही देवदास से प्रेम करती हुई भी न उसे पा सकीं,

न वचा सकीं। सहसा अंजू दीदी हंसी—अरे तू भी तो एक पार्वती है। और पार्वती को लग रहा है जैसे इस दोपहर में उठते गर्म हवा के ये झोंके वसन्त की पुरवैया है···मैली साड़ी में लिपटा उसका वदन जैसे कच्ची अमिया-सा महक उठा है···और जैसे वह विलकुल ऊंचे-ऊंचे उड़ती एक चील है···।

पार्वती को प्यास लग आई थी। दोनों हथेलियों को जोड़कर अंगड़ाई लेती पार्वती ने एक गहरी सांस ली, निचला होंठ काटा, अपने वदन को एक भरपूर नज़र से देखा और दौड़ती-सी कोठरी में आ गई। मटके से पानी निकालकर पीती पार्वती ने देखा मां फटी चटाई पर पड़ी सो रही थी, ललुआ भी उसके उघड़े स्तन से होंठ चिपकाए सो रहा था—मुआ सो रहा है तभी तक चैन है, अभी उठेगा और री-री करता पीछे-पीछे घूमने लगेगा, दिन में दस वार तो नाली पर वैठाना पड़ता है और दसों वार धोना पड़ता है, ऐसा गुस्सा आता है कि मुए का गला टीप दे ताकि छुट्टी मिले···। पार्वती ने घृणा से होंठ सिकोड़कर मुंह फेर लिया···अरे, आज तो उसे घनश्याम के यहां न्योते में भी जाना है। ये लो, वो तो भूल ही गई थी, आज तो वो भी सज के जाएगी, अंजू दीदी ने कहा था—तू भी तो एक पार्वती है।

पार्वती ने ढेर-सा तेल लगाकर वाल जमाए, जूड़ा वांधा, नहीं वंधा तो फिर चुटीला लगाकर चोटी ही गूंथ ली। लक्स सावुन की महकती टिकिया से मुंह मल-मलकर धोया। कल उसने वावू की जेव से पूरा एक रुपया चुराकर ठेले पर 'पौडर' का एक डिव्वा खरीद ही लिया था···क्या करती, अव उससे 'पौडर' के वगैर नहीं रहा जाता। मां तो अन्धी है और वावू को क्या पता लगेगा कि उसने 'पौडर' लगाया है? इस 'पौडर' लगाने की कल्पना से वह पिछली रात कई वार पुलकती रही थी···देखा। 'पौडर' लगाकर वह भी अंजू दीदी-सी महकने-चमकने लगी है···फिर काजल लगाया, वड़ी-सी विन्दिया चिपकाई और मां की एक पुरानी सस्ते रेशम की साड़ी ऊंची-नीची पहनती गुनगुनाने लगी—दैया रे दैया लाज मोहे

लागे···मां पड़ी सो रही थी, सो और यह कम्बख्त ललुआ भी·· वह घंटे भर मे गई और आई।

गली पार करती पार्वती को एक ही बात खटक रही थी। अंजू दीदी पहन-ओढकर कैसे तनकर चलती है, सीना कैसा उठा-उठा रहता है, वो बाजार की बनी पहनती है न, इसीलिए। पार्वती तो अपने हाथों सस्ते कपडे की सीकर पहनती है। ब्लाउज के नीचे बाज़ार की बनी पहने हो तो बात ही और हो जाती है। ठीक है, 'पौडर' का डिब्बा वह खरीद ही चुकी अब की अजू दीदी के यहा जाएगी तो दो बाजार की बनी उठा लाएगी। चोरी थोडे ही होगी ये—कित्ते तो अंजु दीदी के गहने-कपडे पड़े रहते है, उसने कभी छुए? लेकिन पार्वती कब तक मन मारे, बाज़ार की बनी के लिए उसका मन ललच-ललच जाता है। बाजार की बनी पहनकर जब वह भी सीने पर से फिसलते आचल को होठ काटती हुई सभालेगी तो···अरे, ये तो घनश्याम ही दरवाजे पर खड़ा है, पार्वती हड़बड़ा गई।

दरवाज़े मे घुसती पार्वती की कुहनी छूते घनश्याम ने फुसफुसाकर कहा—'थोडी देर मे छत पर आ जइयो ··।'

भीतर उमस और पसीने की गन्ध से घिरी औरतें ढोलक पीट-पीटकर सोहर गा रही थी, घनश्याम की भाभी को लडका हुआ था। पार्वती एक कोने में जा बैठी—उसका शरीर घनश्याम की छुअन मे अब तक झनझना रहा था, ढोलक की ढप-ढप के साथ उसका कलेजा धक्-धक् कर रहा था, नस-नस मे तेजी से दौडता रक्त उछल-उछलकर चेहरे पर आया जा रहा था और वह बार-बार होंठ काटती आचल संभाल रही थी।

लड्डू बंटने लगे। घनश्याम ही बाट रहा था। लड्डू का दोना पार्वती के हाथो में देते घनश्याम ने उसकी उगली दबा दी। लड्डू लेती पार्वती को लगा जैसे उसका सावला रग सचमुच निखर आया है, घनश्याम से आखें चुराती आखें सचमुच बडी-बड़ी हो गई हैं। उसने होठ काटे, लगा होठ सचमुच मीठे हो गए है···और उसके कानो मे साफ-साफ बज रहा है—तू भी तो एक पार्वती है···!

पार्वती ने इधर-उधर देखा। औरतें फिर ढोलक पीटने लगी थीं। कुछ-कुछ अंधेरा घिरने लगा था। पार्वती घनश्याम के घर बचपन से आया करती थी, उसे छत की सीढ़ियां मालूम थीं। आंख बचाकर पार्वती उठी और लरजते पैरों से छत पर जा पहुंची।

छत पर पहुंचते ही घनश्याम उसे खींचकर आड़ में ले गया। एक ओर छत की दीवार थी, दूसरी ओर टीन खड़ाकर आड़ कर दी गई था, इस आड़ में गृहस्थी का कवाड़ भरा पड़ा था। उसी कवाड़ के बीच कांपती पार्वती को सीने से चिंपटाते घनश्याम कह रहा था—'अरी मैं तो तेरे लिए मर जाऊं और तू है कि हमारी तरफ देखे ही नहीं।'

यही तो होवे इसक-मोहव्वत। सनीमा में यही दिखावा जावे और सभी करे है ये···सिहरती पार्वती सोच रही थी—पूरे सोलह की है वो, सब समझे है—'जिनगानी' का मजा इसीमें है···और वो कसमसाते तन-मन को मारकर रह जाती रही है···लेकिन आज अचानक यह सनीमा कैसे सच होने लगा है ? घनश्याम को तो वह बचपन से जानती थी लेकिन वही घनश्याम उसका देवदास बन जाएगा—यह वह कहां जानती थी ?

'गंडेरियां खाएगी' घनश्याम ने पूछा और एक टुकड़ा उठाकर पार्वती के मुंह में ठूंस दिया। गुलाबजल से गमकती गंडेरी चबर-चबर चबाती पार्वती का तन-मन गमक उठा। उस दिन बाबू से गंडेरियों के लिए दो आने मांगे थे तो बुढ़वा आंखें निकालकर कैसा चिल्लाया था, पैसे नहीं दिए थे। लेकिन घनश्याम को कैसे पता कि उसे गंडेरियां इत्ती पसन्द हैं, पूरी दोना भर हैं···शायद घनश्याम को यह भी पता हो कि पार्वती को नुक्कड़वाले हलवाई का कलाकन्द बेहद पसन्द है···यदि वह कह दे तो घनश्याम उसके लिए पूरा पाव भर कलाकन्द भी लाकर रहेगा—घनसू उससे 'पियार' करता है न !

उसने कनखी से घनश्याम को ताका। हाय राम ! कैसा खपसूरत लग रहा है ये घनसू, बिलकुल दलीप कुमार जैसा, वैसी ही नज़रिया

में ताक भी रहा है। बालों में खुसबूदार तेल लगा रखा है, उजले-उजले कपड़े पहने रखे हैं···और·· और पार्वती को लगा कि सच्चई घनश्याम बिलकुल देवदास है और वो भी बिलकुल अपने देवदास की पारो···

गडेरी का एक और टुकड़ा पार्वती को खिलाते घनश्याम ने उसकी कमर में हाथ डालकर उसे करीब खींच लिया, 'सुन पार्वती मैं बम्बई जा रहा हूं, चलेगी मेरे साथ। मैं तुझसे इसक करता हू और तेरे बिना नहीं जी सकता।'

पार्वती को लगा जैसे सचमुच वसन्त की पुरवैया चलने लगी है··· जैसे सचमुच उसका बदन कच्ची अमिया-सा महक उठा है···और वह सचमुच उस चील-सी ऊंचे उड़ गई है···

'बोल न जवाब दे री' घनश्याम ने पार्वती की चुम्मी ले ली। हथेलियों से मुंह ढकती पार्वती की नस-नस में बजने लगा, दैया रे दैया लाज मोहे लागे···।

'कब चल रहे हो' पार्वती ने पूछा। सोच रही थी कि ये 'जन्नत के दरवज्जे' उसपर अचानक कैसे खुल गए। घनश्याम की बाहों में लिपटी पार्वती को वह गन्धाता नरक याद आ रहा था जिसमें वह अन्धी मां, रिरियाते लल्लू और मैली गन्धाती धोती पहने बापू के साथ सुबह से शाम और शाम से सुबह करती होती है।

'कल, बिलकुल कल चल देंगे। मैंने दो सौ रुपये जोड़ रखे हैं: बस बम्बई पहुंचने की देर है फिर तो रुपये ही रुपये हो जाएंगे। बम्बई में तो सोना बरसे है री। फिर तू साथ रहेगी तो हम दोनों खूब मजा लूटेंगे। बस तू हां कह दे,' घनश्याम पार्वती की पीठ सहलाने लगा था।

पार्वती को लगा जैसे वह सपना देख रही हो। पार्वती ने तो समझ लिया था कि इस नरक से उसका छुटकारा कभी नहीं होगा। तीन बेटियों के ब्याह के कर्ज से दबा बापू उसका ब्याह नहीं कर पा रहा था। बड़ा चाव था पार्वती को ब्याह का लेकिन ये घनश्याम तो उसे ब्याह से भी बढ़कर 'इसक मोहब्बत' दे रहा है···पार्वती

। आंखों में सावुन-पौडर, विंदिया, लाली और बाज़ार की बनी
म गई···घनसू उसे सब ला के दिया करेगा···अब क्या ज़रूरत है
से तरसने की?

'तुम कहते हो तो मैं ना थोड़े ही करूंगी,' पार्वती ने कहा और
मग कर घनश्याम से सट गई। उसकी पीठ तपते टीन को छू रही
। और देह में मीठी-मीठी आंच तपने लगी थी···घनश्याम की देह
से ऐसी लग रही थी जैसे महकता-गमकता गाछ हो, जिसकी छांह
उसकी आंखें झूमकर मुंदी जा रही थी···जिससे लिपटकर
सका तपता बदन ठंढाया जा रहा था।

'तो फिर कल दोपहर दो बजे तैयार रहियो। चुपके से निकल
लेंगे। गाड़ी चार बजे जावे है, घनश्याम ने एक और गंडेरी
सके मुंह में ठूंस दी और सीने पर चुटकी काट ली, 'तू कित्ती
पसूरत है री।'

'तुम भी कित्ते अच्छे हो। सुनो जी, हमें सावुन की एक टिक्की
ोगे, हम ज़रा अपने पेटीकोट-बिलोज रात में धो लें, 'कहती
ार्वती घनश्याम से और सट गई थी। उसे नये मिले अधिकार के
उछार में इतराना बड़ा अच्छा लग रहा था।

'धत्तेरे की, मांगी भी तो क्या, सावुन की एक टिक्की, अरे हम
ो अपनी रानी पर जान कुरबान कर सकते हैं, घनश्याम सीना
ठोंककर हंस पड़ा था···पार्वती मगन हो गई थी जैसे 'सुरग' पा
लिया हो।

पार्वती चुपके से नीचे उतर आई, औरतें विदा होने लगी थीं।
भीड़ में मिलकर पार्वती वाहर निकली। दरवाज़े पर घनश्याम
फिर खड़ा था। चुपके से सावुन की टिक्की पार्वती को देते घनश्याम
फुसफुसाया, 'याद रखियो कल दो बजे।'

घनश्याम की चुम्मी और चुटकी में डूबी धम-धम पांव रखती
थिरकती-सी पार्वती घर पहुंची तो उसे यही लग रहा था कि
पिछले घंटों में जो कुछ हुआ कहीं वह सब सपना तो नहीं था? लेकिन
घनश्याम की दी हुई सावुन की टिक्की उसके हाथ में थी···गालों

पर चुम्मी और सीने पर चुटकी की झनझनाहट अभी भी हो रही थी और पूरे पाव भर कलाकन्द का दोना लिए घनश्याम जैसे उसके आगे-पीछे घूम रहा था'''अब अकड़े अंजू दीदी उसके सामने ? अंजू दीदी को क्या पता कि अब पार्वती उससे कित्ती ज्यादा भागवान हो गई है, कोई पार्वती से 'इसक' करने लगा है, अंजू दीदी तो 'इसक' खाली सनीमा में देखती है।

कोठरी में अंधेरा था, लल्लू गला फाड़-फाड़कर रो रहा था। पार्वती ने लालटेन जलाई, देखा लल्लू पाखाने से सना चीख रहा है और अन्धी मा बड़बड़ा रही है। कहा मर गई थी हरामज़ादी''' रेशमी साड़ी उतारकर अपनी मैली धोती खोसती पार्वती चीखी, 'चुप कर री मुंहझौंसी, न्यौते में गई थी, देर हो गई तो क्या करूं '''परान क्यों दे रही है।' पार्वती ने लल्लू को एक हाथ पकड़कर टांग लिया, नाली पर ले जाकर धम से पटका और उसके गाल इतने जोर से मसले कि लल्लू और चीखने लगा। पार्वती का जी कर रहा था कि जाने से पहले वह इस ललुआ के साथ अन्धी माई का भी गला टीपती जाए'''मरें कम्बख्त, अब कल से पता चलेगा आटे-दाल का भाव, निगोड़ों ने लौटिया समझ रखा है, जन के इस पिल्ले को डाल दिया और अन्धी चुड़ैल रात-दिन चिल्लाती है और वह बुड्ढा बाबू रोटी गरम न हो तो राक्षस बन जाता है'''जाए सब भाड़ में'''कल से पार्वती की दुनिया दूसरी होगी, इसक मुहब्बत की दुनिया, साबुन-पौडर की दुनिया, चुम्मी-चुटकी की दुनिया'''पार्वती ने लल्लू को दो धौल जमाकर ढकेल दिया और आटा गूंधने लगी। आज और सब के पेट में आग लगा दूं, फिर पेटीकोट-बिलौज धोने हैं।

पार्वती रोटियां सेंक रही थी। लल्लू पास आकर खड़ा हो गया, नाक बह रही थी, आंखों से बहे आंसू अभी सूखे न थे। 'दिदिया रोती दे' लल्लू ने हाथ फैला दिए। कल इसे रोटी कौन देगा, सोचती पार्वती की अंगुली जलते तवे में छू गई, अन्धी मा आज बहुत कराह रही है, घुटने का दर्द उठ आया है सायत'''लो बाबू भी आ गया। आज इतना थका-मांदा है कि लगता है रोटी भी

नहीं खा सकेगा।

ललुआ को रोटी पकड़ाते, वावू को रोटी परोसते पार्वती का मन जाने कैसा होने लगा। वह वचपन से ही ढीठ और मुंहज़ोर रही है, किसीको पीटते देख उसे हंसी ही आती है, ललुआ को वो जव-तव पीट देती है, मां को गालियों का जवाव गालियों से देती है और किसीकी भी परवाह नहीं करती। फिर आज यह मन कैसा कमज़ोर हुआ जा रहा है। पार्वती से रोटी नहीं खाई गई।

मैले चीकट विछाने पर लल्लू की वगल में सोई पार्वती रात भर करवटें वदलती रही, उसकी दूसरी वगल में घनश्याम आ लेटा था और उसके लरज़ते-सिहरते शरीर को वाहों में भरे ले रहा था··· पार्वती ने करवट वदली। लल्लू ने विस्तर गीला कर लिया था। वम्वई की रंग-विरंगी, महकती-चमकती दुनिया में घनश्याम के साथ घूमती पार्वती वार-वार रिरियाते लल्लू से टकरा रही थी, उसका जी चाह रहा था वह इस गन्दे मरियल छोकरे से दूर भाग जाए लेकिन वह जैसे ही कदम उठाती दो नन्हे कमजोर हाथ उससे लिपट जाते···मैं चली जाऊंगी तो ये लौंडा तो सच्चई मर जाएगा ···सवेरा हो गया था···पार्वती लल्लू को नाली पर वैठा रही थी, नहीं तो फिर सव गन्दा कर लेगा, कमवखत। ज़रा माई के घुटने में तेल भी मल दूं रात भर मुंहझौंसी कराहती रही है···

दोपहर दो वजे घनश्याम आया। सावुन की टिकिया उसे लौटाते पार्वती रो पड़ी, 'हम नहीं जा सकेंगे घनसू, हमें माफ करना और भूल जाना···!' पार्वती ने दरवाज़ा वन्द कर लिया था। दूसरे दिन पार्वती ने सुना घनश्याम चला गया था और वह यह सोच रही थी, घनश्याम के साथ चली ही क्यों न गई ?

आवर्त्त

कॉल-बेल सुनकर दरवाजा खोलते ही मैं सुखद आश्चर्य से अवाक् रह जाती हूं···तराशी हुई मूछों के नीचे अपनी तराशी हुई मुस्कान लिए विजी ही तो है, बिलकुल विजी···एकदम विजी · ओह ! मुझे अवाक् देखकर विजी हंस पड़ता है···नितान्त परिचित हंसी के खन-कते स्वर इतने वर्षों के अन्तराल के बाद भी कितने अपने लगते हैं !

'हलो मुमी ! अरे भई अन्दर आने के लिए भी नहीं कहोगी, अच्छा तो मैं ही पूछता हूं, मे आई कम इन मैडम !' विजी का स्वर गूंजता है। मैं अभी भी अवाक् हूं, विश्वास नहीं होता कि ऐसे इन क्षणों विजी मेरे सम्मुख ऐसे आ खड़ा हो सकता है। इतना अप्रत्याशित है यह सुख, इतना अनमोल, इतना निजी है कि लगता है मैं सपना देख रही हूं।

'डू कम इन, विजी' कहती मैं ड्राइंगरूम की ओर बढ़ती हूं, लम्बे डग भरता विजी मेरे साथ है। 'मे आई टेक माई सीट मैडम', विजी छेड़ता-सा हंसता है और अटैची दीवार से टिका सोफे में धंस जाता है। मैं भी हंस पड़ती हूं, अब सपना सच लगने लगता है।

कुछ क्षण ऐसे ही बीतते हैं। विजी मुझे देख रहा है। उसकी दृष्टि का परिचय अपनापन मुझे छू रहा है। तराशी हुई मूछों के नीचे तराशी हुई मुस्कान कमरे के वातावरण में बिखरकर मेरे सारे परि-वेश को स्पन्दनों से भरे दे रही है···मैं अपनी साड़ी के आंचल को बाएं कन्धे से दाएं कन्धे पर लेकर अपने को ढक लेना चाहती हूं। पैरों की उंगलियों तक साड़ी को हाथ से खींच देती हूं। जाने कैसा मीठा संकोच अंगों में सिहरने लगा है···मैं असहज हुई जा रही हूं।

'मुमी, क्या हो गया है तुम्हें ? न कोई बात, न कोई खातिर,

और हम हैं कि हज़ार मील से तुम्हारे लिए दौड़े आ रहे हैं !' विजी का स्वर इतना निकट और इतना दूर लग रहा है कि फिर मुझे लगता है मैं सपना तो नहीं देख रही हूं !

'ओह, हां, क्या लोगे, ठंडा या गरम ?' मैं कठिनता से बोलती हूं, सपने में शब्द ढूंढ़े नहीं मिलते ।

'चलो तुम कुछ बोली तो, मुझे तो लगने लगा था कि मैं किसी और सुमी को देख रहा हूं । कहां वह नॉन-स्टॉप बक-बक करनेवाली नटखट सुमी, और कहां यह मौन-व्रत धारण किए महिमामयी सुमी,' विजी उस नटखट सुमी की याद दिला देता है जो उसकी किताब छीन-कर उससे किताब के बाहर के इतने प्रश्न पूछती थी कि विजी का सर दर्द करने लगता था ।

तो विजी को उस नटखट सुमी की इतनी याद है । मेरा मन धड़कने लगता है । 'अभी आई' कहती मैं उठकर भीतर आ जाती हूं । चाय बनाने के साथ मैं सहज हो लूंगी । मैं चाय का पानी बिजली के स्टोव पर रख देती हूं । जी चाहता है साड़ी चेंज कर लूं । चेंज करने लगती हूं । नीला रंग विजी का फेवरिट है, नीली साड़ी पह-नती हूं । पाउडर का पफ मुख पर फेरते दर्पण के सम्मुख अपनी आंखों से दृष्टि मिलती है, उस दृष्टि में विजी झांक रहा है···मेरे संवरे रूप की यह विजी दाद देता है । मैं वर्षों पूर्व के कुछ मीठे क्षणों को फिर जीती हूं और चाय की ट्रे लिए ड्राइंगरूम में आ जाती हूं । अच्छा हुआ आज आया नहीं है वरना विजी के साथ मीठे एकान्त के ये क्षण इतने एकान्तित न हो पाते ।

श्रीधर भी तो नहीं हैं । श्रीधर, मेरे पति, वे ऑफिस की ओर से तीन दिन के लिए कल ही तो बाहर गए हैं । ऐसे में विजी के साथ एकान्त के ये क्षण···? तो क्या हुआ ? विजी मेरा बचपन का मीत ही तो है···विजी मन का मीत भी था···विजी की और मेरी आंखों ने जीवन भर के साथ के सपने साथ-साथ देखे थे, किन्तु जैसे हर सपना पूरा नहीं होता, हमारा यह सपना भी पूरा नहीं हुआ था । पड़ोस की रिश्तेदारी हमारे दोनों परिवारों को पसन्द नहीं थी ।

समुद्रतट पर फ्रॉक और नेकर में दौड़ लगाने वाले मुमी और विजी उसी समुद्रतट पर एक दूसरे में डूबे लहरों को गिनने का कभी न खत्म होने वाला खेल खेलने लगे और फिर यह खेल इसलिए खत्म हो गया कि जीवन ने उन्हें लहरों को गिनने से अधिक महत्त्वपूर्ण कामों के लिए बुला लिया। विजी और मैं दोनों ही बहुत स्वस्थ थे, हमारा हाजमा अच्छा था, हमें नींद गहरी आती थी और हमारे स्वस्थ कन्धों पर रखे हमारे सिर भी इतने सन्तुलित थे कि लहरों के गिनने का खेल खत्म होने पर हमने आत्महत्या की नहीं सोची। विजी की और मेरी राहें अलग हो गईं और हम उन राहों पर चल भी पड़े···मेरे लिए विजी मेरे एकान्त क्षणों का वह सपना रहा आया जो पूरा न होने पर भी भुलाया नहीं जा सकता और विजी के लिए मैं···मेरे विवाह पर विजी ने मुझे एक लॉकेट प्रेज़ेन्ट किया था। लॉकेट के साथ एक चिट थी, लिखा था, 'मुहब्बत में हम तो जिए हैं, जिएंगे, कोई और होंगे वो मर जाने वाले···।' प्रेम का जीवन से यह समझौता मेरा जीवन-दर्शन बन गया था···मेरी नम आंखों में विजी का चित्र समय की धूल से भी धुंधला नहीं पड़ा था। मैंने उसके प्यार में मरना नहीं, जीना सीख लिया था।

आज वही विजी आठ वर्षों बाद मेरे द्वार आया है। आभा नहीं है, श्रीधर भी नहीं हैं। दोनों बच्चे स्कूल गए हैं। विजी के साथ मधुर एकान्त के इतने वर्षों बाद अनायास मिले ये क्षण मेरे रोम-रोम में कंपन जगा रहे हैं···मैं विजी के मन में झांकना चाहती हूं···क्या मुमी भी विजी की धड़कनों में जीवित है···?

चाय की ट्रे टेबल पर रखकर मैं बैठ जाती हूं। मोढ़े पर विजी अकेला है, मैं उसके पार्श्व में बैठ सकती हूं किन्तु हमारे शरीर सीमाओं को जानते हैं, मानते भी हैं। मेरा शरीर विजी का स्पर्श नहीं चाहता, लेकिन मन विजी के स्पर्श के लिए पागल हुआ जा रहा है। विजी अखबार देख रहा था। मुझे आया देखकर अखबार रख देता है। हम एक दूसरे की आंखों में देखते हैं···विजी की आंखों में मुझे अपना प्रतिबिम्ब कांपता प्रतीत होता है···विजी की आंखों में···

वहुत तरल लगती हैं··· मुझे लगता है इस तरलता में अभी सुमी जीवित है।

मैं विजी के लिए चाय वनाती हूं। मैं चाय में शक्कर नहीं डालती, प्याला उसकी ओर वढ़ा देती हूं। 'मैं चाय में शक्कर नहीं लेता, इसकी याद है तुम्हें,' कहता विजी का स्वर भी तरल हो जाता है···इस तरलता में किन्हीं अन्तरंग सुधियों के क्षण गूंजने लगते हैं, अपने लिए चाय वनाती मेरी उंगलियां कांपने लगती हैं···मेरी शिराओं में एक मीठा उन्माद थरथराने लगता है···मैं चाय का प्याला होंठों से लगा लेती हूं···आवेश में थरथराते होंठों से चाय देर तक सिप करती रहती हूं।

विजी इतनी दूर से आज मेरे लिए आया है, केवल मेरे लिए, सोचती मैं अपने प्रति एक मीठी पूर्णता से भर उठती हूं, विजी अव भी मुझे देख रहा है, 'तुमने नीली साड़ी पहन ली सुमी, नीला रंग मेरा फेवरिट है, यह भी तुम्हें याद है!' विजी का स्वर और भी तरल हो आया है·· मेरा तन-मन भीग रहा है···भीगता जा रहा है!

'कुछ अपनी सुनाओ विजी, कैसे हो?' मैं पूछती हूं। नितान्त साधारण से इस प्रश्न को पूछते मेरे होंठ आवेश से थरथरा रहे हैं··· मैं वहुत कुछ कहना चाहती हूं लेकिन शब्द खोए जा रहे हैं, मैं स्वयं भी तो खोई जा रही हूं।

'मैं विलकुल ठीक हूं सुमी। जीवन मेरे प्रति मेहरवान रहा है। तुम्हें सुनकर खुशी होगी कि तुम्हारा विजी अव एक अच्छा खासा विजनेस मैगनेट वनता जा रहा है। पिछले वर्षों में मैंने हज़ारों वनाए हैं। वैंक में वढ़ता वैंक वैलेन्स है, घर में खूवसूरत वीवी है, वच्चे हैं, मन में अव भी तुम हो।' विजी का स्वर मुझे इतना गहरा लगता है कि मैं उसमें डूव जाती हूं···मुझे लगता है मैं पूर्ण हो गई हूं···अव कुछ पाना शेष नहीं रहा···केवल एक कामना जागती है कि आज हम फिर उसी समुद्रतट पर देर तक वैठे लहरों को गिनते रहें···गिनते रहें!

'वीच पर चलोगे विजी?' पूछता मेरा स्वर इतना भावुक है कि

मुझे लगता है मैं फिर वह सोलह वर्षीया तरुणी हो आई हूं जिसके लिए लहरों को गिनना सपनों को बुनना था'''और मन के मीत के साथ सपनों को बुनने से अधिक और कोई कामना जिसके लिए शेष न थी ! 'बीच पर चलोगे', मैं ऐसे पूछती हूं जैसे अनुमति पाने के लिए नहीं, अनुमति देने के लिए कह रही होऊं । भला विजी को क्या आपत्ति हो सकती है ? वह स्वयं भी यही चाह रहा होगा, शायद कहने में संकोच हो, इसलिए मैंने तो कह दिया ।

'बीच पर, क्यों ?' विजी का स्वर एकाएक अपरिचित हो जाता है, । 'मेरे पास समय कम है सुमी, एंड देन आइ एम बुक्ड फॉर द ईवनिंग एल्सव्हेअर । मुझे क्षमा करना कि मैं तुम्हें अधिक समय नहीं दे सकता । और हां तुम्हारे पति, मि० श्रीधर कब तक आएंगे ? मुझे उनसे कुछ काम था ।'

विजी का सहसा अपरिचित हो उठा स्वर मुझे झटका देता है । लहरों को गिनने की कामना लडखडा जाती है ''शिराओं का उन्माद थिर हो जाता है, आवेश में कांपते होंठ भिंच जाते हैं, 'वे तो परसों तक आएंगे, क्या तुम ठहरोगे नहीं ?' कहता अपना स्वर भी मुझे अपरिचित लगने लगता है । लहरों में बही जाती सुमी रुककर उन लहरों को तोलने लगती है'''लहरों की जानी हुई निकटता अजानी दूरियों में बदलने लगती है ।

'अच्छा हुआ वे नहीं हैं । उनसे कहने में मुझे संकोच भी होता । अब यह काम मैं तुम्हें सौंपता हूं । यह मेरे टेंडर की एक कापी है । इस टेंडर पर श्रीधर जी की मदद से यह ऑर्डर मुझे अवश्य मिल जाएगा । हजारों का फायदा है इसमें । मेरा इतना काम तुम्हें करना ही होगा, मेरी अच्छी सुमी, और मैं जानता हूं तुम इतना अवश्य कर दोगी । ठीक कह रहा हूं न ?' विजी टेबुल पर रखे मेरे हाथ पर हाथ रख देता है । विजी की हथेली का उष्ण स्पर्श मुझे इतना ठंडा लगता है कि मैं जमने लगती हूं । 'मेरी अच्छी सुमी' कहता विजी का आत्मीय स्वर मेरे कानों में विद्रूप-सा बजने लगता है । कमरे में बिखरे स्पन्दन ऐसे घुटने लगते हैं कि लगता है मेरा दम भी

घुट जाएगा···हवा में ऊंचे तिरती-सी मैं सहसा आहत होकर गिर कर छटपटाने लगती हूं। विजी ने टेंडर के कागज़ निकालकर टेवल पर रख दिए हैं, 'एक सप्ताह के भीतर हो जाना चाहिए, इट इज़ मोस्ट अर्जेन्ट। और हां, तुम्हारे लिए ये साड़ी, देखो कैसी है?' विजी पैकेट में से साड़ी निकालकर टेवल पर फैला देता है। नीली जार्जेट की वैक ग्राउन्ड पर सागर की फेनिल लहरों की डिज़ाइन··· साड़ी सचमुच सुन्दर है···नीला रंग विजी का फेवरिट है और विजी इतनी दूर से आया है, मेरे लिए साड़ी लाया है···लेकिन अव वीच पर चलने के लिए विजी के पास वक्त नहीं है···मैं···विजी···टेंडर ···साड़ी···मेरी चकराती आंखों में गोल वृत्त घूमने लगते हैं।

'दैन आई टेक लीव', कहता विजी उठ खड़ा होता है। तराशी हुई मूंछों के नीचे तराशी हुई मुस्कान मुझे किसी और विजी की लगती है। हम दोनों साथ-साथ दरवाज़े तक आते हैं। 'गुड वाई, मेरी अच्छी सुमी', विजी लम्बे डग भरता दूर होने लगता है। उसने मुड़कर फिर वेव किया है, मेरे हाथ भी उठ गए हैं। मुझे लगता है लहरों के फेनिल फूलों से भरी मेरी अंजलि सागरतट की रेत पर विखर गई है और विजी उन फेनिल फूलों को रौंदता मुझे दूर वहुत दूर हुआ जा रहा है। विजी दूर होता सचमुच ओझल हो जाता है।

'मेरी अच्छी सुमी' मैं एक-एक शब्द पर ज़ोर देकर अपने आपको सुनाती ड्राइंगरूम में आ जाती हूं। मुझे लगता है मैं रो पड़ूंगी लेकिन मैं हंस पड़ती हूं···आज विजी आया भी था या मैंने केवल एक सपना देखा है? आंखें मूंदती-खोलती मैं अपने आपसे पूछती हूं। विजी के आगमन के प्रमाण टेंडर के कागज़ और साड़ी टेवल पर रखे हुए हैं। मुझे सच समझ में आने लगता है। अभी विजी आया था। श्रीधर परसों आएंगे···एक सप्ताह के भीतर विजी का काम हो जाना है···इट इज़ मोस्ट अर्जेन्ट···और विजी ने यह काम मुझे सौंपा है, अपनी सुमी को, अपनी अच्छी सुमी को···वस इतना ही तो, सोचती मैं सोफे पर गिर पड़ती हूं। अव मैं विलकुल सहज हूं।

कगार पर

"अरे···अरे···!" कहते हेमन्त ने बाह पकडकर खीच लिया, "देखती नही आगे 'डेंजर' की लाल तख्ती लगी है ? इसके आगे पानी गहरा होगा···और तुम हो कि कगार पर बच्चो की-सी अठखेलिया कर रही हो ! अभी एक कदम भी आगे पड़ जाता तो ?"

रजना झटके से पीछे खीच ली गई थी, अत लड़खडा गई। रेत पर 'धम' से जा गिरी। 'हा, एक कदम भी आगे बढ जाता तो···!' डेंजर के लोहे के पोल पर लगी लाल तख्ती देखती वह 'तो' के आगे की सोचने लगी थी···तो···तो·· क्या होता ? पानी आगे गहरा होगा···वह डूबने लगती। फिर क्या होता ··? हेमन्त उसे बचाने बढ़ता, लहरो मे समा जाने से रोकने के लिए स्वय उन लहरो मे कूद पड़ता, या कगार पर खडा सहायता के लिए चीखता, या कुछ नही करता···बस, उसे डूब जाने देता·· ?

रेत पर गिरी-पड़ी रजना के बगल मे बैठा हेमन्त सिगरेट सुलगाने लगा था। उसके माथे पर ढेर-सा पसीना आ गया था। सिगरेट सुलगाकर होठो से लगाते वह रूमाल से पसीना पोछने लगा था, "तुम भी बस, जान आफत मे डाल देती हो ? अभी कुछ हो जाता तो···?" हा, यही तो रजना सोच रही थी।

विशाल सागर के इस एकान्त कगार पर हेमन्त और रजना प्रायः घूमने आते। यह कगार, किनारे की रेत, समुद्र का प्रसार, समुद्र मे डूबती अनेक सांझें उनकी निकटता की साक्षी थी। पहले रंजना उस ओर अकेली जाती थी। निर्जन स्थल पर बैठकर बालू पर रेखाएं खीचना, एक और डूबते दिन को समुद्र की लहरों मे समाते देखना उसे अच्छा लगता। लगता जैसे सागर ने अपनी गहराई मे साझ के

सारे रंगों को उतार लिया है, जैसे किसीने किसीको बांहों में समेटकर वक्ष में उतार लिया हो। वैसे वह भावुक कतई नहीं थी। बस, नौकरी इसीलिए की थी कि भाइयों-भाभियों से मुक्ति पा सके। किसी हद तक वह उद्दण्ड भी थी। कभी किसीके सामने नहीं झुकी। बस में ज़बर्दस्ती सीट घेर लेती। सिनेमा देखने जाती, तो 'क्यू' तोड़कर टिकट लेकर मानती। भाई-भाभी ज़रा-सा भी टोकते तो अनाप-सनाप बकने लगती। हां, पढ़ने में अच्छी थी। तीन भाइयों की सबसे छोटी अकेली बहन। माता-पिता की उसे कोई स्मृति नहीं। बड़ी भाभी ने उसे कलेजे से लगाकर पाला था, किन्तु रंजना उनका आभार मानने से भी इनकार कर देती, पालती नहीं, तो क्या मार डालतीं···? और कैसे मारतीं···दुनिया में देखने वाले नहीं थे क्या··· समाज नहीं था···कानून नहीं था···? मारतीं तो मारी नहीं जातीं···?

बड़ी भाभी गांव की थी, रंजना की बक-झक पर हंस देतीं, "अच्छा लली, जाने दे! हमने तुझे फांसी के डर से ही नहीं मारा, यही सही···तू तो हवा से लड़ती है!"

रंजना चलती, तो 'धम-धम' पैर पटकती! हंसती तो उन्मुक्त होकर। घंटों नहाती। दिन चढ़े तक सोती। भाइयों के बच्चों को जब-तब पीट देती। मझली भाभी से तो उसकी हाथापाई की नौबत आ जाती, "हमें बड़ी न समझना बीबी रानी, हमारे लड़के-लड़की को हाथ लगाया, तो अच्छा नहीं होगा···!" "क्या अच्छा नहीं होगा···? क्या कर लोगी तुम···? बबलू मुझे डिस्टर्ब करेगा, तो ज़रूर चपत जड़ूंगी! लो, तुम्हारे सामने ही लगाती हूं···!' और रंजना सचमुच तड़ से एक चांटा बबलू को जड़ देती है।

मंझली भाभी आग हो जाती, रंजना की कलाई पकड़कर मरोड़ने लगती, "तोड़ दूं हाथ···?" रंजना उससे गुंथ जाती। बड़ी भाभी दौड़तीं, "राम राम! क्या कमीनों-सा महाभारत मचा रखा है···! छोटी, तू ही सबर कर लिया कर बहन, अब ये ननद जी तो सुनने से रही! पता नहीं, कौन-सा भूत सवार रहता है इस लड़की के सिर पर जो आफत किए रहती है···!"

बडी भाभी, रोती-धोती मझली को खीच ले जाती। रंजना आराम से लेटकर 'मनोहर कहानिया' पढ़ने लगती। रहस्य-रोमांच की कहानिया उसे अच्छी लगती। 'मिस्ट्री मर्डर' पिक्चरो के लिए तो वह पागल बनी रहती। पता नही कैसे मैट्रिक मे बी० कॉम० तक फर्स्ट क्लास पाती रही। कोई चकित होता, तो तडाक् से जवाब देती, "अरे, फर्स्ट क्लास पाना क्या मुश्किल है। नकल की अकल होनी चाहिए!" लेकिन पढ़ने में वह सचमुच अच्छी थी। शुद्ध अंग्रेजी बोल सकती थी। पहनने-ओढने का सलीका आता था। धीरे-धीरे मेकअप करना इतना अच्छा सीख गई कि घर मे भूतनी-सी घूमती रंजना और बन-सवर-कर बाहर निकलती रजना को एक मानना मुश्किल हो जाता।

बी० कॉम० करते ही उसने मुहल्ले के बैंक मे ही नौकरी के लिए एप्लाई किया और छोटे-बडे सोर्स भिडाकर बैंक में क्लर्की पा ही ली घर से तीन-चार फर्लांग पर ही बैंक था—दिन भर का नही, सुबह आठ से दस और शाम को चार से छह का, बस। बाकी वक्त फ्री था, उसका अपना था। वह स्वय भी बिलकुल 'अपनी' थी। एक बात उसमें और अच्छी थी। वह लडकों से दूर रहती थी। इस कारण कभी और कोई काण्ड नही हुआ था। हा, एकाध बार किसी लडके के छेड़ने पर उसने सीधे चप्पल उतारकर जड दी थी। मुहल्ले के युवक उससे कतराते। भाई निश्चिन्त रहते कि और कुछ भी हो, रजना उनकी नाक नही कटाएगी।

पहला वेतन मिलते ही उसने ढाई सौ मे से सौ बडी भाभी के सामने फेंक दिए, "अब तुम्हारे टुकडे नही खाऊगी! ये रहे सौ रुपये···मेरे घर मे रहने और खाने-पीने का खर्च···! ज्यादा ही दिए है, कम नही। मेरे खाने-पीने पर इससे ज्यादा खर्च नही आएगा···धीरे-धीरे अब तक का सारा एहसान चुका दूगी!" बडी भाभी रो पड़ी, "तुम एहसान चुकाओगी लल्ली, मेरी ममता का···? चुकाकर देखो!"

रंजना व्यंग्य से हंस पड़ी, "मुझे आसू-वासू से कुछ नही होता··! रोना है, तो रोओ! बात ममता-वमता की नही, सीधे-सीधे हिसाब

की है। तुमने, भैया ने मुझपर जो खर्च किया है, लौटा दूंगी···वस-मैंने कहा न, किसीका एहसान मानना मेरे वस की वात नहीं है!"

रंजना वढ़िया मेकअप कर, खूवसूरती से साड़ी की चुन्नटें और आंचल झुलाती, नपे-तुले कदम रखती वैंक आती-जाती। शाम को अकसर सहेलियों के साथ घूमने-घामने चली जाती, पर आठ से पहले ही लौट आती। सिनेमा का मार्निंग या मैटनी शो ही देखती। रात को कभी देर तक घर से वाहर न रहती।

फिर···रंजना को याद नहीं पड़ता, कव, कैसे, क्यों, वह महानगरी की भीड़भाड़ से दूर समुद्र-तट पर जाने लगी···और वह भी किसी-के साथ नहीं, अकेली। कव, कैसे, क्यों सागर के अन्तहीन प्रसार को वह घंटों निहारने लगी। लहरों से जाने क्या कहने-सुनने लगी। वालू पर रेखाएं खींचती, सांझ को समुद्र की वाहों में समाती देखती रंजना के वक्ष में कुछ जाग-सा उठा था। उस 'कुछ' का अहसास धीरे-धीरे प्रवल होता गया। अनचाहे भी चाहने लगी कि उसके साथ कोई और भी हो! रंजना के लिए 'कोई और' की तलाश भी मुश्किल नहीं थी। वह सुन्दरी न सही, आकर्पक अवश्य थी। खासी पढ़ी-लिखी थी। भले घर की थी। कमाऊ थी।

हेमन्त, उसके सवसे छोटे अनव्याहे भाई का मित्र था। भाई हेमन्त की वहन से प्यार करने लगा था। हेमन्त को उसकी वहन और अपने छोटे भाई के साथ रंजना ने कई वार देखा और पाया कि हेमन्त उसे उन्हीं निगाहों से देखता है, जैसे छोटा भैया हेमन्त की वहन को देखा करते हैं।

रंजना की कुछ समझ में आया, कुछ नहीं आया, लेकिन जव वड़े भैया ने उनके लिए हेमन्त को 'प्रपोज़' किया, तो वह विलकुल मान गई। एक मंडप में दो विवाह एक साथ हुए। हेमन्त की वहन उसके घर आ गई, वह हेमन्त के घर चली गई, हेमन्त के दो कमरोंवाले फ्लैट में। रंजना की केवल दो शर्तें थीं, वह सास-ननद, किसीके साथ नहीं रहेगी, न नौकरी छोड़ेगी। हेमन्त को उसकी दोनों शर्तें मंजूर थीं।

सुहागरात की रात भी रंजना संयत थी। घंटों मेकअप करती रही

थी, बार-बार साड़ी सभालती रही थी और जब हेमन्त ने उसकी ओर नशीली आखो से देखा, तो उसने स्वय स्विच ऑफ कर दिया था।

हेमन्त को रजना कुछ अजीब-सी तो लगती, पर वह तुष्ट था। रंजना बेड-टी से लेकर रात का खाना तक व्यवस्थित ढग से प्रस्तुत कर देती···मोहक शृगार किए, सुहाग-सेज पर उसे तैयार मिलती, "हा, बच्चे अभी नही···कतई नही···" रजना की तीसरी शर्त थी।

अब रजना सौ नही, पचास रुपये प्रति मास भाई-भाभी को देती, "अहसान चुका रही हू···" एक चिट पर लिखा होता।

हेमन्त की आय निश्चित नही थी। वह इन्श्योरेन्स एजेण्ट था, कभी ज्यादा, कभी कम। लेकिन रजना उससे गिनकर तीन सौ रुपये प्रति मास रखवा लेती। हेमन्त घर क्या भेजता है, कितना बचाता है, वह एक-एक रुपये का हिसाब पूछती। तीन बहनो के विवाह हो चुके थे। अकेली विधवा मा गाव मे थी। "उनके लिए सौ रुपये काफी हैं···" वह सख्ती से कहती, "बाकी एक मकान का किराया भी तो उनको मिलता है, काफी है, ठीक है।"

रंजना व्यावहारिक थी, बचाकर खर्च करती थी। हेमन्त को भी शिकायत नही थी। आरामदेह जिन्दगी की उनकी आशाए, कल्पनाए एक जैसी थी, बिलकुल ठोस, भौतिक। पाच सौ मे दो प्राणियो का खर्च आसानी से चल जाता·· वैसे, धीरे-धीरे रजना का वेतन बढ़ने लगा था। वह कुछ ट्यूशन्स भी करने लगी थी।

दो कमरो का पोर्शन, पुरानी बस्ती मे होने के कारण सस्ता पडता था। नये मुहल्लो में किराए चौगुने थे। रजना धीरे-धीरे उसी पुराने की कायापलट करने लगी। दीवारो पर डिसटेम्पर करवाया, परदे लगाए, बेंत का सोफा-सेट सजाया, उसपर कुशन भी सजाए, इन्सटालमेन्ट पर सीलिंग फैन खरीदा···धीरे-धीरे फ्रिज और स्कूटर की भी योजना थी। हेमन्त को उसने 'नोटिस' दे दिया था कि वह भी कसकर मेहनत करे···जिन्दगी को आरामदेह बनाने के लिए रुपया बहुत ज़रूरी है।

जैसे दिन-रात अपनी लीक पर चलते, रजना और हेमन्त की

कलाई घड़ियां चलतीं, वे भी अपनी-अपनी परिधि में, सुनिश्चित चक्र में घूमने लगे थे। एक चक्र, एक क्रम···एक सुनिश्चितता···रंजना और हेमन्त के बीच निश्चित समझौता था।

हेमन्त के यार-दोस्त फब्तियां कसते, "यार ये तेरी बीवी भी अजीव औरत है···! औरत है तो···!"

हेमन्त भी हंस पड़ता, "नहीं यार, पूरी औरत है, लेकिन है अजीव ! समझ में नहीं आता, किस मिट्टी की बनी है ! देखा, शादी को दो साल होने आए और हम दोनों में कभी झगड़ा ही नहीं हुआ !"

श्रीधर ने रिमार्क कसा, "सो नो लव इज़ लॉस्ट बिटवीन यू—तुम दोनों के बीच प्रेम खोया नहीं हैं, यानी कि खोती वही चीज़ है न, जो पाई होती है···मतलब कि बस तुम दोनों मियां-बीवी हो, एक छत के नीचे रहते हो, एक बिस्तर पर सोते हो···और बस!"

हेमन्त सहसा गम्भीर हो गया, "हां यार, रंजना के इर्द-गिर्द सब कुछ इतना नपा-तुला, गिना-गिनाया, निश्चित, व्यवस्थित रहता है कि कभी शिकायत तक का मौका नहीं आता, झगड़ना तो दूर की चीज़ है ! न कभी चाय में देर होती है, न कभी खाने में नमक कम या ज्यादा होता है, न कभी वह देर से घर लौटती है···!"

विनोद ने धीरे से पूछा, "और सेक्स···? इज़ शी सैटिस्फाई यू ?"

हेमन्त और गम्भीर हो उठा, "शी इज़ परफेक्टली ! हां, मैं यह नहीं कह सकता कि वह मुझसे असन्तुष्ट है, या नहीं···बच्चे वह चाहती नहीं···तबियत खराब होती है, तो भी मुझसे पास बैठने को नहीं कहती···सोचता हूं कि मैं ही इतना बीमार पड़ जाऊं कि उससे पास बैठने के लिए कह सकूं···लेकिन, प्रश्न है कि तब भी वह पास बैठेगी, या अस्पताल में भरती करवा देगी ?"

"रियली स्ट्रेंज···! सब कुछ इतना ठीक है कि बेठीक होने को जी चाहता है !" हेमन्त ने एक दीर्घ निःश्वास लेते बात समाप्त कर दी।

दो वर्षों में रंजना ने इतना पैसा जोड़ लिया कि मिनी फ्रिज ले आई। फ्रिज में पहले ही दिन आइसक्रीम जमाई। हेमन्त के सामने कप मेज़ पर रखती बोली, "लेट अस सेलिब्रेट ऑवर ओनिंग ए

फ्रिज ! मैंने कहा था न, हिसाब से चलेंगे, तो धीरे-धीरे फ्रिज क्या, फ्लैट भी ले लेंगे !"

लेकिन हेमन्त ने आइसक्रीम को हाथ नहीं लगाया। वह चुपचाप कभी फ्रिज को, कभी रजना को देखता रहा। रजना ने स्वाद ले-लेकर जबान चटकाते अपना कप साफ कर दिया, "क्यों खाते क्यों नहीं ? क्या आइसक्रीम से एलर्जी है ?"

सहसा हेमन्त ने आइसक्रीम का कप उठाकर फेंक दिया, "एलर्जी आइसक्रीम से नहीं, तुमसे हो गई है ! पता नहीं तुम औरत हो या पत्थर !"

रजना न हिली, न कांपी, न क्रोधित हुई, "शायद तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। बेकार में इतना खूबसूरत कप तोड दिया··· सेट सत्यानाश करके रख दिया। पूरे चौबीस रुपये का था···! लाना तो चाहती थी और भी खूबसूरत, लेकिन दाम दुगने थे···इस बार वही लाऊंगी।"

"तो फिर पूरा सेट तोड़ दू ?" हेमन्त बोला।

"सेट तोड़ना है, तोड़ दो, लेकिन चीखो मत ! बिहेव योरसेल्फ प्रॉपर्ली···!" रंजना की दृष्टि, स्वर, सब ठंडा था, "चलो घूम आए। ठंडी हवा लगेगी, तो तुम्हारा दिमाग ठंडा हो जाएगा··· शायद कुछ गर्मी चढ़ गई है !" रजना के स्वर मे व्यग्य भी था, "फिर भी तबियत ठीक न हो, तो डाक्टर कपूर को दिखाते आएगे·· रास्ते में ही तो उनकी क्लिनिक पडती है।"

रजना उठकर तैयार होने लगी। क्रोध से फुफकारता हेमन्त सहसा रोने लगा, फूट-फूट कर।

"अरे, मैं तो समझती थी, औरतों को ही हिस्टीरिया होता है, तुम्हें कैसे हिस्टीरिया का दौरा पड गया ?"

"तुम मेरे आंसू भी नहीं पोछोगी ?" हेमन्त का स्वर कांप रहा था।

"ये लो रूमाल, खुद पोंछ लो ! मुझे किसीके आंसू पोछना नहीं आता, सॉरी !" रंजना ने बाएं हाथ मे रूमाल बढ़ा दिया, दाएं से होंठों पर मनोयोग से लिपस्टिक फेर रही थी।

"आंसू पोंछना तो तब आता है, जब रोना आता हो···! पता नहीं, भगवान ने तुम्हें दिल नाम की चीज दी भी है, या नहीं !"

"चलो, उसे भी आज डाक्टर से चेक करवा लेंगे ! मैं तो समझती हूं, मेरे पास दिल है, दिमाग भी, देह भी···वरना मैं जिन्दा कैसे हूं? सांस लेती हूं, काम करती हूं, खाती-पीती हूं···सब कुछ तो नॉर्मल है ! तुम्हीं एबनॉर्मल हो उठे हो ! चेकअप मेरे दिल का नहीं, तुम्हारे दिमाग का होना चाहिए। वैसे भी, आजकल मेन्टल डिरेंजमन्ट के केसेज बहुत होने लगे हैं···अखबार में न्यूज थी कि अमेरिका में सेवन्टी परसेन्ट लोग जेब में ट्रैंक्विलाइजर्स रखते हैं···हेमन्त, क्या हम लोग भी अमेरिका नहीं चल सकते···? ग्रेट आइडिया ! हम भी अमेरिका चलेंगे, जरूर चलेंगे···!" रंजना कोई ट्यून गुनगुनाती उठ खड़ी हुई।

"अखबारों में यह भी तो न्यूज है कि अमेरिका में आत्महत्याओं की संख्या बढ़ती जा रही है···वह तुमने नहीं देखी ?" हेमन्त आंख में आग और पानी साथ लिए रंजना को घूर रहा था।

"देखी थी, वह भी न्यूज देखी थी···लिखा था, सत्तर प्रतिशत नींद या नशे की गोलियां खाते हैं,बाकी तीस प्रतिशत आत्महत्या की स्थिति में जीते हैं···या मर जाते हैं···लेकिन डेथ इज ए मस्ट···मैं मरने-वरने के बारे में सोचती ही नहीं!" रंजना सैन्डिल पहनने लगी थी, "अब चलो, तैयार हो जाओ !"

हेमन्त झटके से उठा। बुश्शर्ट पहनी, लुंगी उतारकर पैंट चढ़ाया, जूते के फीते कसते फिर चीखा, "चलो···! हो गया तैयार ! मरने के बारे में तो वो सोचेगा जो जिन्दा हो·· तुम क्या, सोचोगी···? सोच सकती ही नहीं ! तुमने तो सारी जिन्दगी को एक मैथेमेटिकल केलक्युलेशन बनाकर रख दिया ! तुम्हारे साथ तो जीना मुश्किल हो गया है !"

"तो साथ छोड़ दो ! आई वोन्ट स्टॉप यू ! मेरी तरफ से तुम इस क्षण से आजाद हो !" रंजना की दृष्टि, स्वर, सब ठंडा था।

'कमबख्त बिलकुल आइसक्रीम है···! आइसक्रीम कभी-कभी खाई जा सकती है, प्रति दिन का खाना तो नहीं बन सकती, जो जीवन

देना है···!' हेमन्त बन रहा था। वे साथ-साथ सीढ़ियाँ उतरने लगे थे। हेमन्त का जी चाह रहा था, रंजना को सीढ़ियों पर से धक्का दे दे··· इतनी ज़ोर से कि इसे खूब चोट लगे। इस कमबख्त को चोट का कोई अहसास तो हो!

फिर वे सागर के उसी एकान्त तट पर जा बैठे। सहसा रंजना उठी···अठखेलियाँ-सी करती पत्थर के कगार पर चलने लगी··· पत्थर के बने उस कगार पर, जो इतना कम चौड़ा था कि दोनों पैर भी एक साथ नहीं रखे जा सकते थे···फिर कब वह डेंजर की तख्ती तक पहुँची, कब हेमन्त ने उसे घसीट लिया, कब वह रेत पर धम् से जा गिरी···इन सबका तो उसे होश नहीं रहा, किन्तु यह समझ में आ गया कि अगला कदम उसे किसी अतुल गहराई में डुबा सकता था···फिर न रंजना होती, न रंजना की देह, दिल, दिमाग। उस क्षण हेमन्त क्या करता··? उसे डूब जाने देता, या उसे बचाने में स्वयं भी जान की बाजी लगा कूद पड़ता? तब शायद दोनों साथ-साथ डूब जाते·· तैरना न हेमन्त को आता था, न रंजना को। अभी-अभी ही तो एक प्रसिद्ध डाइरेक्टर अपनी प्रेमिका के साथ ऐसे ही लहरों में समा गया था··अखबारों में न्यूज़ थी किन्तु उसका 'उह' इस बार कहीं अटक-सा गया था।

रेत पर पड़ी रंजना ने हेमन्त को पहली बार ध्यान से देखा, धीरे से पूछा, "अच्छा, एक कदम आगे पड़ जाता और मुझे कुछ हो जाता, तो··?" रंजना का दिल पहली बार मृत्यु की कल्पना से ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा था। पहली बार वह हेमन्त को निर्निमेष देख रही थी।

हेमन्त ने सिगरेट का गहरा कश खींचा, "तो क्या, [illegible] जाती···मर जाती···!" हेमन्त का स्वर भाव-हीन था, [illegible]

"मेरा मतलब है···" रंजना का स्वर जीवन में पहली [illegible] उठा, "तुम मुझे बचाने, या डूब जाने देते···?"

हेमन्त ने सिगरेट फेंक दी, रंजना पर [illegible] समझती हो···?" वह रंजना को अपलक देख रहा [illegible]

रंजना ने हेमन्त के गले में बांहें डाल दीं, "नहीं, तुम मुझे डूबने नहीं देते ! मेरे साथ तुम भी डूब जाते। माफ करना, हेमन्त, पहली बार मौत के कगार पर आकर मैंने ज़िन्दगी की कीमत समझी है···पहली बार तुम्हें पहचाना है···!" रंजना शायद जीवन में पहली बार फूट-फूट कर रोने लगी थी ।

"मुझे नहीं, अपने आपको पहचाना है···तुमने रंजी···! शायद अब हम ठीक से जी सकेंगे ! ज़िन्दगी के लफ्ज़ को ही नहीं, मायने को भी जी सकेंगे···जीवन के अर्थ को पा सकेंगे···! अब तो अमेरिका नहीं चलोगी न ?"

"न, अब अमेरिका नहीं···अब तो जल्दी से जल्दी एक नन्हा हेमन्त चाहिए !" रंजना के आंसुओं से नहाए कपोलों पर गुलाल बिखर गया ।

"आज की रात ही ले लेना···!" हेमन्त ने रंजना के होंठों पर अपने होंठ रख दिए, जीवन की चेतना से स्पन्दित उष्ण होंठ । कगार पर लहरें टक्कर मारने लगी थीं···चांद उठने लगा था···पूर्णिमा की रात भीगने लगी थी···सागर में ज्वार उठ आया था···और जब रंजना और हेमन्त काफी देर बाद आलिंगन-मुक्त होकर उठे, तो कगार पर लगी डेंजर की लाल तख्ती लहरों के ज्वार में डूब चुकी थी ।

बस में हेमन्त से सटकर बैठती रंजना ने धीरे से कहा, "और सुनो, हम मांजी को गांव से बुला लेंगे···सर्विस तो मैं छोड़ूंगी नहीं, फिर बेबी को कौन संभालेगा···?"

हेमन्त उसके कान पर झुका, "यह क्यों नहीं कहतीं कि अब बच्चे के साथ तुम्हें मां भी चाहिए···क्यों ?" रंजना ने कोई खूबसूरत चोरी पकड़ी जाती देखकर झेंपने वाली नज़रें झुका लीं । हेमन्त से और सट गई । बस के हिचकोले उन्हें और सटाए दे रहे थे ।

सुख

रात जबसे राजा बाबू को सपने में देखा, बुट्टो बुआ का मन कटी पतंग-सा डोल रहा है। पतंग तो जाने कब की कट चुकी। फिर ये बैरन हवा क्यों इसे इस छोर से उस छोर तक ठोकर मार रही है?' बुट्टो बुआ ने एक ठंडी सांस खींची। जीर्ण आंचल से पसीने से भीग गए चेहरे को पोंछा और कातर दृष्टि से आकाश को देखने लगीं।

कटी पतंगों के आभास बुट्टो बुआ की कातर आंखों में हैं। आकाश में तो एक भी पतंग नहीं। बैसाख की दुपहर के इस चिलचिलाते आकाश में कोई पखेरू भी नहीं। केवल है इस छोर से उस छोर तक आग बरसाती धूप, इतनी कड़ी कि खोपड़ी चिटक जाए। ऐसी ही कड़ी धूप सारे जीवन बुट्टो बुआ के भीतर-बाहर चिलचिलाती रही है और उसका तन-मन चिटकता रहा है। बुट्टो बुआ को लगता है इन क्षणों धूप को झेलती धरती की आंखें वैसी ही कातर हैं जैसी बुट्टो बुआ की रही आई हैं ··

सूने, आग बरसाते आकाश में बुट्टो बुआ की आंखें किसी कटी पतंग को देखने लगती हैं। कहीं कोई पतंग नहीं, लेकिन बुआ को लगता है इस जलते आकाश में कोई कटी पतंग डोल रही है ·· डोल रही है···! पतंग के दिन आते हैं तो बुआ बौखला जाती है। कोठरी बन्द कर बैठ जाती है। फिर बैठा भी नहीं जाता तो निकल-कर उन छोकरों को कोसने लगती है, जो बांस उठाए कटी पतंग लूटने दौड़ते होते हैं, 'अरे मुओ, काहे परान दे रहे हो इन पतंगन के पीछे?'

कोई ढीठ लड़का और चिढ़ाता है, 'तुम्हारा क्या जाता है?'

'अरे, जाता काहे नाहीं है··· जाता काहे नाहीं है··· हुंह,' [illegible] में से एक दो आने निकालती है, उसी ढीठ लड़के को ·

'ले नई पतंग खरीद लीजिओ। इस पतंग का पीछा छोड़।'

लड़कों का झुंड हंसता, शोर मचाता दौड़ जाता है। फिर वे उस दिन उस ओर नहीं आते। वैसे भी बुआ का घर बस्ती से हटकर एकान्त में है, ऐसे एकान्त में जहां साधारणतया कोई रहने को तैयार न हो। पहले लोगों ने डराया भी था, 'अरे! वहां तो भूत रहते हैं।' 'तो हम कौन चुड़ैल से कम हैं, भूत हमें का डरावैंगे!' बुआ ने ज़ोर से कहा था, यद्यपि वैसा कहते उसका कलेजा भी कांप गया था। अपने कांपते कलेजे को बुआ ने स्वयं ही थाम लिया था और उस कोठरी में रहने लगी थी, जो लालाजी ने उसे मुफ्त ही रहने को दे दी थी। बदले में बुट्टो बुआ उनके घर के अनेक काम कर दिया करती। उस कोठरी में रहते बुआ को लगता जैसे वह सच ही कोई चुड़ैल हो। उसे स्वयं से भी भय लगने लगता। लेकिन कहीं कोई भी तो नहीं था उसके आसपास जिसे वह अपना भय दिखाती। वह भय उसकी ही पसलियों में कांपता-कांपता खामोश हो जाता।

बुट्टो बुआ मुंगौड़ी-पापड़ की पोटलियां पटककर धम से नीम के पेड़ के नीचे बैठ जाती है। नीम का यह सघन गाछ वर्षों से तपती दुपहरों में बुआ को ठंडी छांह देता रहा है। बुट्टो बुआ जब-तब नीम के तने से माथा छुआती है, 'हे निमुआ देव! तुम बने रहना, नाहीं तो इस अभागिन बुट्टो को कोई पल भर छांह भी नहीं देगा।' बुट्टो जब पहले-पहल इस कस्बे में आई थी तो गिरती-पड़ती इसी नीम के तले पहुंचकर अचेत हो गई थी। चेत आया तो देखा था, केवल नीम की ठंडी छांह उसे घेरे है और दूर-दूर तक धूप ही धूप है। नीम के इस पेड़ को बुआ अपनी तपन का साक्षी भी मानती है, अपना रक्षक भी। हर साल जब चैत में नीम फिर से फूलता है, नन्हें-नन्हें सफेद फूलों से भर उठता है, नई कोमल पत्तियों से लद जाता है, तो बुआ मगन हो जाती है···! नीम की परिक्रमा करती है, उन सफेद फूलों से आंचल भर लेती है, उन कोमल हरी-हरी पत्तियों को अपलक देखती है। हर साल नीम का गाछ ही नहीं हरिआता, जैसे बुट्टो के बंजर-मन की कोई आस हरी हो जाती है।

रात राजाबाबू को सपने में देखा था और बुट्टो चिहुंककर जाग गई थी, जैसे किसी बिच्छू ने डंक मार दिया हो। राजा बाबू की याद सौ-सौ बिच्छुओं के डक लिए होती है। ये बिच्छू डक मारते हैं, बुट्टो बुआ तड़पने लगती है। तड़पते-तड़पते बुआ के मन में जैसे कोई मन्त्र जगता है, 'राजा बाबू कुछ भी हों, हैं तो हमारे पति। और वो हमारे हों न हों, हम तो उनहीं की हैं।…' बुआ के होंठ यह मन्त्र दुहराने लगते हैं, डक की चुभन कम होने लगती है, जलन शान्त हो जाती है और बुआ अनायास कल्पना करने लगती है, 'कहीं राजा बाबू आ जावें तो।' रात सपने में यही तो देखा था कि राजा बाबू आ गए हैं। बुट्टो के सामने खड़े हैं और बुट्टो अवाक् है, विस्मय से नहीं, भय से। और फिर बुट्टो सारी रात करवटें बदलती रह गई थी। कोई और सपना याद आ गया था…। हा, वह पहली रात बुट्टो के मन में एक दुःस्वप्न बनकर गड़ी रह गई थी। वह पहली रात जब बुट्टो ने राजा बाबू को पहली बार जाना था।

चौदह वर्ष की बुट्टो सच में अबोध थी। सुहाग-सेज पर बिछे फूलों को देखती सोच रही थी, भला, ये फूल यहां क्यों बिछाए गए, इन्हें मन्दिर पर भगवान जी पर चढ़ाना चाहिए।

तभी कमरे में एक तीखी गन्ध फैल गई। बुट्टो का सिर भन्ना गया। राजा बाबू सामने खड़े थे, नशे में आखें लाल थीं, मुंह गन्धा रहा था। बुट्टो सहम गई। सुना, वे कह रहे थे, 'अरे! तुम तो करलो परी हो!' बुट्टो सांवली थी, गोरी नहीं। किन्तु वे उसे सांवली नहीं काली कह रहे थे। बुट्टो की पलकें फड़फड़ाईं। मन भी जाल में फंस गई चिड़िया-सा फड़फड़ाने लगा था! राजा बाबू ने शायद वे फड़फड़ाती पलकें देख ली थीं, 'और वाह! ये आखें हैं या मक्खियां चिपका दी गई हैं। औरत की आखें तो ऐसी होनी चाहिए कि फैलाकर देखें तो दिल समेट…लें…जैसे चम्पाबाई की हैं।'

बुट्टो अबोध थी, किन्तु ऐसी नहीं कि अपने रूप का यह उपहास न समझ सके। उसकी पलकें भीगने लगीं, आंसू कपोलों पर धार बांधकर बह निकले। राजा बाबू गिलास और बोतल उठा लाए,

'चल कम्बख्त,गिलास भर, देखूं गिलास भरना भी आता है या नहीं।'

बुट्टो गिलास भरने लगी थी कि गिलास हाथ से छूट गया था। खनखनाकर टूटते गिलास के साथ राजा बाबू के हाथ का एक भरपूर थप्पड़ बुट्टो के आंसुओं से भीगते गाल पर पड़ा। बुट्टो गिरी, अचेत हो गई। सवेरे जब चेत आया तो बुट्टो जाने कितनी देर समझ नहीं सकी कि वह कहां है और क्या हुआ है ? साड़ी पलंग पर पड़ी थी, वह स्वयं फर्श पर। पेटीकोट पर लगा रक्त सूख गया था और बुट्टो का अंग-अंग दर्द से टूट रहा था। अंगों की टूटन से अधिक कोई और टूटन थी, जिसे पहली बार महसूस करती बुट्टो देर तक निःशब्द रोती रही थी।

राजा बाबू के दिन सट्टे में बीतते, रातें घुंघरुओं की झंकार में। राजा बाबू को बुट्टो की ओर देखने की फुरसत नहीं थी।

उस रात के बाद बुट्टो के अबोध मन को इतनी बुद्धि आ गई कि वह अपनी स्थिति को स्वीकार कर ले। राजा बाबू के पैरों में घिसटती चप्पल-सी अपनी स्थिति को। उन पैरों में वह पूरे आठ वर्ष घिसटती रही, जब तक कि एक रात सट्टे में अपना सब कुछ हार कर, नीलाम पर चढ़ी कोठी को छोड़, एक अंधेरी रात में राजा बाबू जाने किस अंधेरे में समा गए।

दरिद्र माता-पिता पहले ही हैज़े से मर चुके थे। जब वे थे तो बुट्टो उनसे लिपटकर रो चुकी थी कि वह राजा बाबू के पास नहीं जाएगी। किन्तु मां और पिता दोनों ने आंखें तरेरकर एक ही बात कही थी, 'नहीं बेटी, अब तो वही तेरा घर है और राजा बाबू तेरे स्वामी।' और सीता-सावित्री के देश की बुट्टो सिसककर रह गई थी।

बुट्टो ने यह भी समझ लिया था कि दरिद्र माता-पिता ने बड़ी मुश्किल से तो बुट्टो का बोझ उतारा था, अब वे उस बोझ को वापस क्यों लेते ? बुट्टो को सदा लगता रहा जैसे वह एक बोझ है।

नीलाम हो चुकी कोठी से निकलकर सड़क पर खड़ी बुट्टो की आंखों में आंसू भी नहीं बचे थे। फिर जाने कैसे वह उस शहर से इस कस्बे में आ गई। मुंगौड़ी-पापड़ बनाती-बेचती बस गई। 'रहै

को ई भुतही कोठरी, हाड तोडे को ई पत्थर की मिल, और का चाही बुट्टो तुझे, और का चाही'' ' बुट्टो बुआ निर्मम होकर स्वयं से यह प्रश्न पूछा करती।

'किते बरस बीत गए'''हे राम !' नीम की छाह में बैठी बुट्टो बुआ उन बरसों का हिसाब लगाने लगती है तो सारी जिन्दगी एक अथाह रेगिस्तान-सी उसकी धुंधली आखों में फैलकर रह जाती है। जलती धरती, तपता आकाश'''न आकाश की आंखो मे कोई मेघ का टुकडा, न धरती के आचल में कोई फूल'''। बुट्टो बुआ तो अपना नाम भी लिखना नही जानती, फिर कैसे बताए कि उस लम्बी जिन्दगी के लम्बे-लम्बे दिन-रात उसने कैसे कट-कटकर काटे हैं, एक अथाह रेगिस्तान में वह कैसे भटकती रही है, एक बंजर जिन्दगी को उसने कैसे मर-मर कर जिया है।

मुंगौड़ी के लिए दाल पीसती बुट्टो बुआ अपने विधाता से पूछा करती है, 'काहे जनम दिया विधाता इस बुट्टो को, दाल पीसने के लिए, पापड बेलने के लिए ? कौन-सा दिन आवेगा जब यह ढाई मन की लहास अर्थी पर उठैगी'''हे राम ! कब आवेगा वो दिन, वो घडी'''।' दाल पीसते बुट्टो बुआ के हाथ पत्थर की उस मिल से भी अधिक पत्थर होने लगते हैं ! पसलियों के भीतर से एक चीत्कार फूटता है ! लेकिन कोई भी तो नहीं है आसपास जिसे वह ये पत्थर होते हाथ दिखाए, या यह चीत्कार सुनाए। हाथ फिर दाल पीसने लगते हैं, चीत्कार स्वयं खामोश हो जाता है'''। बस बुट्टो बुआ को देर-देर तक लगता रहता है कि वह जिन्दा नहीं है, केवल ढाई मन की एक 'लहास' ढो रही है।

बुट्टो बुआ को अपनी भारी देह पर बहुत गुस्सा आता है, 'ढाई मन की लहास है कमबखत'''अर्थी उठैगी तो भी आठ आदमी उठावेंगे। देखो न, बच्चे के नाम पर तो इस निगोडी कोख ने एक पिल्ला भी न जना, ये मेरी छातियां वैसे हो सेर-सेर भर की हो गई'''पूरा गज भर कपडा चाहिए इन्हे ढकं को'''।'

लेकिन दर्पण मे अपने मुख को देखती बुट्टो बुआ

'चल कम्बख्त,गिलास भर, देखूं गिलास भरना भी आता है या नहीं।'

वुट्टो गिलास भरने लगी थी कि गिलास हाथ से छूट गया था। खनखनाकर टूटते गिलास के साथ राजा वाबू के हाथ का एक भरपूर थप्पड़ वुट्टो के आंसुओं से भीगते गाल पर पड़ा। वुट्टो गिरी, अचेत हो गई। सवेरे जव चेत आया तो वुट्टो जाने कितनी देर समझ नहीं सकी कि वह कहां है और क्या हुआ है ? साड़ी पलंग पर पड़ी थी, वह स्वयं फर्श पर। पेटीकोट पर लगा रक्त सूख गया था और वुट्टो का अंग-अंग दर्द से टूट रहा था। अंगों की टूटन से अधिक कोई और टूटन थी, जिसे पहली वार महसूस करती वुट्टो देर तक निःशब्द रोती रही थी।

राजा वावू के दिन सट्टे में वीतते, रातें घुंघरुओं की झंकार में। राजा वावू को वुट्टो की ओर देखने की फुरसत नहीं थी।

उस रात के वाद वुट्टो के अवोध मन को इतनी वुद्धि आ गई कि वह अपनी स्थिति को स्वीकार कर ले। राजा वावू के पैरों में घिसटती चप्पल-सी अपनी स्थिति को। उन पैरों में वह पूरे आठ वर्ष घिसटती रही, जव तक कि एक रात सट्टे में अपना सव कुछ हार कर, नीलाम पर चढ़ी कोठी को छोड़, एक अंधेरी रात में राजा वावू जाने किस अंधेरे में समा गए।

दरिद्र माता-पिता पहले ही हैज़े से मर चुके थे। जव वे थे तो वुट्टो उनसे लिपटकर रो चुकी थी कि वह राजा वावू के पास नहीं जाएगी। किन्तु मां और पिता दोनों ने आंखें तरेरकर एक ही वात कही थी, 'नहीं वेटी, अव तो वही तेरा घर है और राजा वावू तेरे स्वामी।' और सीता-सावित्री के देश की वुट्टो सिसककर रह गई थी।

वुट्टो ने यह भी समझ लिया था कि दरिद्र माता-पिता ने वड़ी मुश्किल से तो वुट्टो का वोझ उतारा था, अव वे उस वोझ को वापस क्यों लेते ? वुट्टो को सदा लगता रहा जैसे वह एक वोझ है।

नीलाम हो चुकी कोठी से निकलकर सड़क पर खड़ी वुट्टो की आंखों में आंसू भी नहीं वचे थे। फिर जाने कैसे वह उस शहर से इस कस्वे में आ गई। मुंगौड़ी-पापड़ वनाती-वेचती वस गई। 'रहै

होने लगती है। याद आता है—ऐसी बुरी तो वह नहीं थी। वह गोरी नहीं थी, लेकिन सांवली-सलोनी तो थी। बूटा-सा कद, सुघड़ हाथ-पांव और जगमग बत्तीसी। ब्याह के पहले तेल-हल्दी का उव-टना करती मां ने कहा था, 'मेरी बेटी को नज़र लगेगी!' और सच में डिठौना लगा दिया था। फिर बुट्टो ने राजा बाबू से सुना था, वह कल्लो परी है, उसकी आंखें नहीं मक्खियां हैं। और उन्हीं राजा बाबू ने एक दिन उसे ऐसा प्रबल धक्का दिया था कि वह चौखट पर गिरकर बेहोश हो गई थी। उस जगमग बत्तीसी के चार मोती टूट गए थे, नीचे का होंठ कट गया था। उन दांतों के टूटने के बाद राजा बाबू से जुड़ने की कोई आशा भी शेष नहीं रह गई थी। टूटे दांत और कटे होंठ ने बुट्टो को सचमुच कुरूप बना दिया था।

अब तो बुट्टो बुआ पचास लांघ गई है। आधे से अधिक दांत टूट-टाट गए हैं। आधे से अधिक बाल पक गए हैं। गाल लटक आए हैं। आंखों में मैल आता रहता है। उन्हीं मैली आंखों को झपकाती, दन्तविहीन मुख से बुट्टो आशीर्वाद बिखेरती रहती है। वह मां की भी बुआ है, बेटी की भी। वह तो पुरुषों को 'भैया जी' या 'काका जी' कह भी लेती है लेकिन बदले में उसे सब बुट्टो बुआ ही कहते हैं। और मोटापा है कि बुट्टो की जर्जरता को ढाई मन की लाश बना गया है, 'हे राम कब उठैगी ये लहास···।' रात में करवटें बदलती बुट्टो कराहती होती है।

'इन तीस बरसन मे ज़माना कितना बदल गया,' बुट्टो बुआ कपाल पर हाथ लगाकर सोचती है, 'सुना, अब तो मनई-मेहरारू झगड़ैं तो मेहरारू को भी हक्क है अलग हो जावै का, दूसर बियाह रचावै का ···राम···राम···आदमी जो चाहै करै, लेकिन तिरिया का तो ई धरम नाहीं कि एक को छोड़ दूसर का हाथ पकड़ै···।'

बुट्टो बुआ अपने धर्म के आभास में डूबने लगती है। बाहर का अंधेरा वैसा ही रहता है, लेकिन भीतर कहीं भोर का-सा उजास फूट आता है। उस उजास में डूबती बुट्टो ऐसी तन्मय हो उठती है जैसे मन्दिर वाले सूरदास से झांझ पर कीर्तन सुनकर होती है! बुट्टो के होंठ

हरिनाम-सा राजा बाबू का नाम रटने लगते हैं। मन मजीरे बजाने लगता है। और फिर सब कुछ चुप हो जाता है·· खो जाता है···शेष रह जाता है केवल अंधेरा·· अंधेरा, बुट्टो को लील जाने वाला अंधेरा !

आंखों में आता मैल पोंछने के लिए बुट्टो बुआ आंखों में आंचल लगाती है तो लगता है आंख फड़क गई है। कौन-सी फड़की है, बाईं ? बाईं आंख का फड़कना तो शगुन होता है·· क्या शुभ होगा·· क्या शुभ हो सकता है·· ? बुआ के मन में सहसा एक हुलास उठता है, 'अगर सच्चई राजा बाबू आ आवें तो·· !' बुआ का मन उमगने लगता है जैसे बरसात में सूखी पड़ी तलैया, उमग आती है। जब-जब ऐसे आंख फड़की है, बुट्टो बुआ उमग आई है, 'अरे, हमार ऐसे भाग कहां जो राजा बाबू लौट आवें ··और लौट भी आवें तो अब तो उमिर का सूरज भी ढल गया, रात के अंधेरे में कौन किसे पहचानेगा··· चीन्हेगा !' बुट्टो बुआ का कलेजा टीसने लगता है, हां, अब तो उमिर का सूरज भी ढल गया···राजा बाबू ने तो बुट्टो को तब भी नहीं चीन्हा था जब उमिर का भिनसार था·· बुट्टो अचीन्ही ही रह गई थी।

'अब राजा बाबू का भी कौन दोष···बुट्टो के भाग ही खराब हैं। सो कहते हैं न, रूप की रोए, भाग की खाए। जाने कौन से पाप किए थे बुट्टो ने पिछले जनम में, जो नरक भोगती रह गई···। सच्चई, राजा बाबू का कौनो दोष नाहीं, बुट्टो ही जनमजली है।' मैली आंखें झप-काती, राजा बाबू को क्षमादान देती, गिरी-पड़ी बुट्टो उठ-सी आती है। अनगिन दुखों के बीच कैसा सुख-सा है इस क्षमादान में ! घुप्प अंधेरे में बुट्टो कभी-कभी इस सुख को टटोल लेती है।

'अच्छा हुआ जो राजा बाबू रहा-सहा रूप बिगाड़ गए, नाहीं तो इज्जत बचानी मुमकिन हो जाती···।' उन टूटे दांतों, उस कटे होंठ के लिए बुट्टो राजा बाबू की कृतज्ञ होने लगती है। 'राजा बाबू कदर करें न करें, बुट्टो की देह राजा बाबू की अमानत है·· ई देह जूठी हो जाती तो बुट्टो कभी न जीती ··चाहे जैसे परान त्याग देती ··।' बुट्टो पढ़ी-लिखी नहीं, धरम-करम की बड़ी-बड़ी बात नहीं जानती। केवल

इतना समझती है कि उसकी नारी देह के अछूते जलने में जो अगर-बत्ती-सी गमक है, वह बहुमूल्य है···प्राणों से भी अधिक मूल्यवान।

दुपहर चढ़ आई है। नीम की छांह भी गरम होने लगी है। सहसा हवा का एक थपेड़ा उठता है, रेत का वगूला उठ आता है। बुट्टो बुआ रेत के उस वगूले को देखकर आंखें मूंद लेती है। वगूला देखा नहीं जाता। हवा का थपेड़ा बुट्टो बुआ को रेत से नहला जाता है। आंख, नाक किरकिराने लगी है। धूल और पसीने से नहाई बुट्टो बुआ उठ खड़ी होती है, 'चल री बुट्टो, तेरे भाग में चैन कहां! आज तो कुछ विक्री भी नहीं हुई। चल, एक चक्कर उधर का भी लगा ले। साइत कुछ विक-बिका जाए। आज तो घर में आटा भी नहीं है। मुट्ठी भर दाल-चावल पड़े होंगे। न नमक है, न तेल। आग लगे इस पापी पेट में, इस वैरन जिनगानी में।' बुट्टो अपने को कोसती चलने लगती है। आंख नाक ही नहीं, जी भी तो किरकिरा रहा है।

आखर किस सुख के लिए जिन्दा है बुट्टो, मर क्यों नहीं जाती? बुट्टो बुआ ने कई वार अपने जी से पूछा है। कई वार चाहा है कि पत्थर वांधकर किसी ताल-तलैया में डूब मरे या रस्सी का फन्दा लगा ले या तेल छिड़ककर जल मरे। लेकिन बुट्टो बुआ में मरने का भी साहस नहीं है! मृत्यु की सोचते बुट्टो बुआ डरने लगती है, 'जाने मरने के वाद क्या हो'' अव इस जिनगानी में जो कुछ भोगे का था भोग लिया'' जव जीते जी चैन नहीं मिला तो मरने के वाद ही मिलेगा, कौन जाने?' तभी कहीं वट्टो को लगता है कि उसके जीने-मरने में फ़र्क ही कहां है? वह तो जाने कव की मर चुकी है! जलते आकाश के नीचे, तपती धरती पर अपनी देह को घसीटत बुट्टो बुआ को लगता है, 'हां, सच्चई वह जिन्दा कहां है, वह तो जाने कव की मर चुकी है।' दुपहर का यह सांय-सांय करता सन्नाटा जैसे मौत का सन्नाटा है, यह चारों ओर फैला अकेलापन जैसे मृत्यु का अकेलापन! शायद वह मृत्यु के वाद के ही वियावान में अकेली भटक रही है···और आसपास दूर-दूर तक कोई नहीं है। बुट्टो बुआ की

सांस भारी हो उठती है, ठीक गर्म हवा के उस थपेड़े की तरह ! बुआ के भीतर गुबार-सा उठता है, ठीक रेत के उन बगूलों की तरह…!

निर्वसन

वह एक साधारण लड़की थी। इतनी साधारण कि उसे देखकर अनदेखा किया जा सकता था। वह भीड़ में खो सकती थी। और कोई एकान्त उसे पाकर ध्वनित हो उठे, ऐसी भी वह कहां थी? साधारण नाक-नक्श, सांवला रंग और मुख पर कोई वैशिष्ट्य नहीं। बचपन में वह मुझे ऐसी ही लगती थी। क्लर्क पिता की तीसरी सन्तान। उसके पीछे तीन और थे। वह जैसे अनचाहे जन्म गई थी। अभी वह अंगूठा ही पीती थी कि वह अपने से छोटे भाई को गोद में टांगने लगी। नुक्कड़ के हलवाई से जब-तब दूध या मिठाई लाते मैंने उसे देखा था, जब-तब पिटते भी। पिटकर आंसू बहाती, जब वह मैले फ्राक से अपनी आंखें पोंछती तो मुझे उसपर बेहद करुणा आने लगती। कभी-कभी मैं उसे कुछ दे देता, एक लेमनचूस या एकाध आना। तब वह आंसू पोंछना भूलकर मेरा हाथ पकड़ लेती। 'भैया' कहती वह हंसने लगती। उसका 'भैया' कहना मुझे अच्छा लगता था।

उसका नाम राधा था। भारत की मिट्टी में हर तीसरी लड़की का नाम राधा होता है। कृष्ण के साथ राधा का नाम हमारी संस्कृति के होंठों पर गूंजता रहा है। 'राधा कृष्ण' का नाम हमारे मन्दिरों से घरों तक गूंजा करता है न! राधा नाम कदाचित् नारीत्व की उस चेतना का प्रतीक है, जो प्रेम का प्रतीक थी। नारीत्व की चेतना और प्रेम···और राधा···मैंने कहीं पढ़ा है, 'हर स्त्री में राधा होती है।'

मैं उस लड़की के सम्बन्ध में नहीं, कभी-कभी उसके नाम के म्बन्ध में सोचा करता था। राधा नाम के साथ क्या हमारी

संस्कृति, हमारा समाज, नारीत्व की उस चेतना को भी आत्मसात् कर सका है, जिसे प्रेम चाहिए, जिसे स्वीकार चाहिए, जिसे कृष्ण चाहिए। लेकिन कृष्ण तो एक ही राधा को मिले थे। और वे भी पूरे कहां मिले थे ? कृष्ण कई टुकड़ों में बंट गए थे। किन्तु राधा के पास अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं था, जिसे वह बांटती। राधा उन्मादिनी होकर रह गई थी। क्यों हो उठती है नारी उन्मादिनी, जबकि पुरुष निर्ममता की हद तक संयत रहा आता है ? क्या पुरुष नारी से थोड़ा-सा उन्माद नहीं ले सकता कि फिर राधाओं को आत्मघात न करना पड़े ! यह भावुकता·· गलत चीज़ है—बुजुर्ग कहते हैं, यदि मर्द भी औरत की तरह चूड़ियां पहनकर बैठ जाए, तो दुनिया कैसे चलेगी ?

'नहीं,' मैं कहता हूं—मर्द को औरत की तरह चूड़ियां पहनकर बैठने की जरूरत नहीं है···केवल उन चूड़ियों भरे हाथों को जब-तब मस्तक से छुलाते भर रहने की जरूरत है। थोड़ी-सी पूजा, थोड़ा-सा उन्माद·· और बस दुनिया जन्नत हो उठेगी !

'अरे चल, बैठे-बैठे उल्टी-सीधी बघारा करता है। जानता है, जो दुनिया की रीत नहीं मानते, उन्हें पागल कहते हैं। जरा ठहर जा, कोई आ जाए तो तेरी सारी जन्नत निकाल देगी।' मेरी मां कहती थी। तभी तो मैंने अब तक शादी नहीं की, अट्ठाईस का होने आया। मां जैसों की भीड़ में मेरी 'जन्नत' का अर्थ कौन समझेगा···? शायद वह भी नहीं, जिसके चूड़ियों भरे हाथों को मैं माथे से लगाना चाहता हूं। जाने क्या-क्या सोचता रह गया हूं मैं ?

राधा की मां जब उसे चीखकर बुलाती, 'अरी रधिया, करमजली, कहां मर गई ?' तो मेरा जी चाहता, मैं भी चीखकर पूछूं—'क्यों रखा इसका नाम 'राधा'? करमजली ही रखती!' और अबोध आंखों में अनकहा दर्द लिए वह करमजली मां के सामने आ खड़ी होती।

मैं राधा का पड़ोसी था। वह छः वर्ष की होगी तब मैं सोलह का था। एक दिन वह मेरा हाथ पकड़कर खींचने लगी, 'आओ

भैया, चोर-पुलिस खेलें।' मुझे हंसी आ गई, 'चोर कौन बनेगा ?' 'तुम···' कहती वह दौड़ने लगी। उसकी अबोध आंखों में पल-भर की खुशी देखने के लिए मैं चोर बन गया। वह दौड़ी ही थी कि देहरी से टकराकर गिर गई। एकदम से चार दांत टूट गए। खून की धारा बह निकली। रोने लगी थी। उसे लेमनचूस देकर चुप कराते मैं सोचने लगा था, 'क्यों गिर गई यह ! इसने जरा-सा तो खेलना चाहा था। सच, क्या इसके नसीब में आंसू ही हैं ?' उन क्षणों 'नसीब' शब्द मुझे इतना भयावह लगा कि मैं राधा की ओर भी नहीं देख पा रहा था। शायद एकाध आंसू मेरी आंखों में भी आ गया था। जिसे झुठलाते मैं हंसा था, 'चूहेखानी ! पूरा का पूरा चूहा मुंह में रख लिया तो दांत टूटेंगे ही।'

'जाओ भैया, मैं चूहेखानी नहीं हूं। कहां खाया मैंने चूहा··· झूठ !' वह सकुचा गई थी। उसका वह अबोध संकोच मेरे भीतर एक आलोड़न जगा गया था···। यह दुबली-पतली, सांवली निरीह लड़की ज़िन्दगी से कैसे लड़ेगी ? इसके पास कोई भी तो हथियार नहीं है। जैसे-जैसे राधा बड़ी होती गई, उसे दूर से देखते मेरे भीतर का वह आलोड़न प्रबलतर होता गया।

जाने कब राधा के टूटे दांतों के स्थान पर मोती-सी बत्तीसी जगमग करने लगी। उसके सारे मुख पर केवल उसके होंठों के संपुट तराशे हुए थे। जाने कब वे संपुट गुलाबी हो उठे। छोटी आंखों को बड़ा करना तो प्रकृति के वश में भी नहीं था, किन्तु जाने कैसे उन आंखों में इन्द्रधनुषी रंग झलक उठे ? कहां से झलक उठते हैं ये रंग हर राधा की आंखों में ? शायद ये रंग हर नन्हीं गुड़िया के भीतर सोए पड़े होते हैं और यौवन की दस्तक उन्हें जगा देती है। मुझे तो यौवन की हर दस्तक भी निर्दोष लगती है। फिर कौन दोषी हो उठता है—वह राधा, वे दस्तकें या वह समाज जो शिकारी के समान घात लगाए बैठा हर चौकड़ी भरती हिरनी पर तीर चला देता है ? दानवीय व्यवस्थाओं के जाल में जाने कितनी हिरनियां फंस जाती हैं, छटपटाती हैं, दम तोड़ देती हैं। जरूर दिमाग खराब हो गया है

मेरा कि मुझे हर लड़की राधा लगती है । हर राधा हिरनी···। और हर हिरनी की कान तक खिंची आंखों में मुझे एक कातर, आर्त पुकार दिखाई देती है, जीने की कामना की !

मैं बी० ए० पास करके दो साल से झक मार रहा था। 'वान्टेड' के कालम देख रहा था। एक दिन, वान्टेड के कालम देखते समय उसने मुझे छुआ, 'देखो भैया कैसी लग रही हूं ?'

'अरे जैसी है वैसी ही लगेगी, पूरी चुड़ैल जैसी।' मैंने बिना उसे देखे कहा।

'न, मुझे देखो, देखो न !' वह कातर-सी हो उठी।

मैंने आंख उठाई, 'अरे, यह चुड़ैल इतनी सुन्दर कब हो गई, कैसे हो गई ?' मैं हंस पड़ा। सचमुच मेरे सामने वय सन्धि की सीमा पर खड़ी राधा, मुग्धा नायिका-सी सौन्दर्यमयी हो उठी थी। भावना रंग इतना मोहक हो आया था कि दृष्टि में लोभ जगा दे ! होंठों के तराशे सपुट गुलाबों हो उठे थे···और उन छोटी आंखों में रंगों के विस्तार फैल गए थे ! यह वही चुहेखानी है, जो आज हम रही है तो मोती जगमग कर रहे हैं ? मैं विभोर हो उठा—कब हो गया यह कायापलट ! अभी कल तक तो यह नाक बहाए घूमती थी।

मेरे मुंह से 'सुन्दर' सुनकर वह किंचित गर्व से भर उठी। ग्रीवा को एक सहज भंगिमा से झुकाकर बोली, 'वो तुमने रानीपूनो को दो रुपये दिए थे न, तो मैं मां से छुपाकर स्नो ले आई। रोज लगाती हूं। मेरी सब सहेलियां लगाती हैं, तो मेरा भी मन करता है। और अब तुम भी कह रहे हो न कि मैं सुन्दर हो गई।' उसने दृष्टि उठाकर मुझे देखा—निर्दोष, स्वच्छ, दर्पण-सी आंखें जिनमें जो कुछ होता, प्रतिबिम्बित हो उठता था।

मैंने देखा, वह सयत्न स्वयं को ढके थी। साड़ी का आंचल दोनों कन्धों को ढके था और झूलती लटों में आमंत्रण नहीं, केवल एक क्रीड़ा थी। वह गुड़िया खेलना छोड़कर अपनी आंखों के रंग, अपनी झूलती लटों से खेलने लगी थी। सहसा चन्दा मौसी का कर्कश स्वर आया, 'अरी राधा, चल इधर आ।'

फिर मैंने सुना, चन्दा मौसी अपने ऊंचे स्वर को दबाकर कह रही थी, 'क्या दिखा रही थी उसे ? कोई सगा भाई है तेरा ?'

'सगा न होने से क्या होता है, उसे राखी जो बांधती हूं।' यह राधा का सहमता स्वर था।

'चल, बड़ी आई राखी बांधने वाली। अब जो उससे खुसर-पुसर की तो जान ले लूंगी।'

मैंने देखा राधा मुंह में आंचल ठूंसे दौड़ती-सी दूसरी कोठरी में चली गई है। मैंने यह भी देखा, कुलांचे भरती हिरनी को पहला तीर लग गया था···। उसकी आंखें आहत हो उठी थीं।

मैंने एक ठंडी सांस ली। उठकर चला आया। मैं कुछ भी तो नहीं कर सकता था। राधा की वे अबोध आंखें मुझे बार-बार याद आतीं, जिनमें कोंच-कोंचकर बोध जगाया जा रहा था—पाप का।

राधा की मां चन्दा मौसी, और मेरी मां सहेलियां थीं। एक पुराने मुहल्ले में हम दोनों परिवारों के सटे घरों की छतें मिली थीं। एक छत से दूसरी छत पर मुंडेर फांदकर जाया जा सकता था। मेरे तो पिता नही थे, किन्तु राधा के पिता को मैं मौसाजी कहता आया था। जब से होश आया, मैंने राधा के परिवार को सहजता से निकट माना था। इसलिए 'कोई सगा भाई है तेरा···' मुझे भी आहत कर गया। किन्तु उन बातों से क्या फायदा कि पत्थर मारे जाने लगें? मैं स्वयं को और राधा को उन पत्थरों से बचाना चाहता था, जो समाज के ठेकेदार फेंकने लगते हैं।

जाड़े की एक खुशनुमा गुलाबी सुबह थी। मैं अपनी उबड़-खाबड़ पत्थरों वाली छत पर बैठा किसी पुस्तक के पृष्ठ पलट रहा था। मन निश्चय ही उन पृष्ठों में नहीं था। मन तो उस गुलाबी, गुनगुनी सुबह से कुछ ऊष्मा उधार लेना चाहता था कि मेरी शिराओं में जमा जाता रक्त, बहता रहे। मैं अभी भी 'वान्टेड' के कालम ही देख रहा था। बी० ए० तक की पढ़ाई तो मां ने जैसे-तैसे पूरी करवा दी थी। अब घर में चूल्हा जलना बन्द होने की नौबत आ रही थी। अपने परिवार में हम मां-बेटे दो ही थे, फिर भी मैं निखट्टू साबित हुआ

जा रहा था। कुछ तो समय ही टेढ़ा था और कुछ मैं जीवन में कोई अर्थ ढूंढने की कोशिश कर रहा था। मां कहती, 'अरे भैंदे, जो काम मिलता है कर-करा ले। कोई तुझे जवाहरलाल थोड़े ही बनना है।' जवाहरलाल तो खैर मुझे नहीं बनना था, न बन सकता था, किन्तु जीवन को दाल-रोटी और बीवी-बच्चे के अतिरिक्त कोई छोटा-सा अर्थ और देना चाहता था। और इस अर्थ देने के चक्कर में धीरे-धीरे नालायक सिद्ध हुआ जा रहा था।

मैं उस सुबह मे ऊष्मा खोज रहा था। देखा, राधा और चन्दा मौसी धूप मे वड़ियां डालने अपनी छत पर आई हैं। मैंने पीठ घुमा ली। मैं राधा की उन आहत मृगी-सी आंखों से बचना चाहता था।

'मां, एक बात कहूं?' यह राधा की आवाज थी, मधुर और सरल, जैसे बसन्त में कोई चिड़िया चहचहाती है। मेरी पीठ पर जड़ी आंखे देख रही थीं कि चन्दा मौसी ने तेज नजरों से राधा को देखा है, कहा कुछ नहीं है और राधा ने गरदन झुका ली है।

'मां, मैट्रिक तो मैं कर चुकी। जानती हूं अब आगे पढ़ना मुश्किल है। मां, मुझे नाच सीख लेने दो, मेरा बड़ा मन है।' डालियों पर फुदकती चिड़िया चहचहा रही थी।

'तू नाच सीखेगी! नाच क्या शरीफजादियों के काम हैं?' चन्दा मौसी गरज उठीं।

'क्यों? मीरा भी तो नाचती थी मां, 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई...' अपने यहां टंगे कैलेंडर में मीराबाई नाच रही है न।'

'भाड़ में गई मीरा...अब तो नाचने वालियां कोठे पर नाचती हैं...रंडी बनेगी?'

'मां...' राधा का स्वर रुद्ध हो गया था।

मेरी पीठ पर जड़ी आंखें देख रही थीं। चन्दा मौसी धम-धम करती नीचे चली गई हैं। दाल से सना हाथ लिए राधा बैठी रह गई है...वह भी तो उस गुलाबी सुबह में कोई ऊष्मा खोज रही थी कि जीवन को कोई अर्थ दे सके।

सहसा मुझे लगा हो सकता है, कभी चन्दा मौसी भी

जैसी रही हों और मीरा बनना चाहती हों···। और ज़माने ने उनके घुंघरू बंधे पैरों पर इतने कोड़े मारे हों कि वे नाचना क्या, चलना भी भूल गई हों···। आज चन्दा मौसी मीरा को भाड़ में झोंक रही है और मीरा की बात करने वाली अपनी बेटी को केवल 'रंडी' का अर्थ समझा रही हैं···। क्यों···क्यों होता है ऐसा कि मीरा की बात करने वाली राधाएं कोठों पर खड़ी हो जाती हैं ?

मेरी पीठ पर जड़ी आंखें देख रही थीं···राधा का रुद्ध स्वर सिसकियों में फूट पड़ा है·· मैं और नहीं सह सका । राधा जाने कब तक बैठी रही होगी, मैं नीचे चला आया था । मेरे भीतर का आलोड़न अपने किनारों पर टक्करें मारने लगा था···भंवर में फंसी राधा को निकालने का आवेश भी मन में आया था···किन्तु लहरों से टक्कर लेने का साहस मुझमें नहीं था ।

गर्मी की एक चांदनी रात थी । तरतीबवार बने, पॉश बंगलों वाले मुहल्लों में चांदनी भी लाउंज या टेरेस पर कायदे से उज्ज्वल होकर उतरती है···। फिर उस चांदनी में 'स्वीट पी' या रातरानी की खुशबू भी घुल जाती है । लेकिन मेरे मुहल्ले में ऊंची-नीची, जीर्ण छतों पर उतरती चांदनी बेतरतीब और मलिन हो उठती थी । उस चांदनी में कोई खुशबू नहीं, नालियों से उठती दुर्गन्ध घुलने लगती थी···। और तब 'स्वीट पी' की खुशबू की कल्पना करते मैं आंखें मूंद लेता था । फिर, सपनों भरी नींद आ जाती थी ।

बहुत गर्मी थी उस रात । सारा वातावरण जैसे एक भरपूर सांस के लिए हांफ रहा था, ऐसी उमस भरी घुटन थी । मैंने देखा, बगल की छत पर कोई आया है—राधा थी ।

मैंने देखा, राधा कुछ क्षणों बुत बनी खड़ी उस चांदनी को देखती रही फिर नाचने लगी । वहां कोई लय नहीं थी, कोई धुन नहीं थी, कोई संगीत नहीं था,···वह धीमे स्वरों में 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई···' गाती राधा अपनी ही धुन, अपनी ही लय, अपने ही संगीत पर नाच रही थी···। भंगिमाओं में मुड़ते हाथ और थिरकते पैर···। मैंने देखा, राधा को घेरे वह मलिन चांदनी भी धीरे-धीरे

नाचने लगी थी।

जी चाहा, मुंडेर फादकर जाऊ और राधा को आशीर्वाद दे आऊं कि वह नाच सके···नाचती रहे; लेकिन मुडेर फादने की निर्दोष क्रीडा समझी जाने की हमारी उम्र जा चुकी थी। अब मुंडेर फादना, चोर बनना था। उन क्षणों राधा केवल मीरा थी और मैं केवल उसे आशीर्वाद देना चाहता था। लेकिन मुंडेर फाद नही सका था।

मां ने बताया, राधा का रिश्ता आया है। मैं रोटी खा रहा था, कौर गले मे फस गया, 'कहा से' ?

'अरे, नुक्कड़ पर जो लाला है न उसके यहा से।' मा कुछ परेशान-सी लगी।

'लेकिन उसका बेटा तो अभी छोटा है।' मैंने फसे कौर को पानी के घूट से उतारकर कहा।

'रिश्ता लाला के खुद के लिए है।'

लाला के खुद के लिए? उस मोटे, काले, घिनौने जानवर के लिए, जिसे आदमी कहना मुश्किल है। कौन नही जानता कि वह रात-दिन डडी मारता है, शराब पीता है और आधी रात गए किसी बदनाम गली से लौटता है। नही, मा ने गलत सुना होगा।

लेकिन मां ने ठीक ही सुना था।

राधा आर्तनाद कर रही थी, 'नही मा, मैं ब्याह नही करूगी।'

'ब्याह नहीं करेगी तो क्या करेगी, बोल, कोठे पर बैठेगी ?' चन्दा मौसी राधा को चाटे मार रही थी।

'मैं कुछ काम करूगी···और पढ़ूगी·· तुम्हारे पास रहूगी·· मा ···मुझे बचा लो···'

'अरे, ब्याह तो हर लडकी को करना पडता है·· तुझे करना पड़ेगा·· करेगी कैसे नहीं·· ' चन्दा मौसी ने राधा को कोठरी में धकेलकर साकल लगा दी थी। निरीह से दीखने वाले मौसाजी भी गुर्रा रहे थे, 'रहने दो बन्द चुडैल को, दिमाग ठिकाने आ जाएगा।' एक खिरी से यह सब देखता मैं खामोश था। हा, राधा की चोट के दाग मेरे भीतर भी साफ-साफ उभर आए थे।

जैसी रही हों और मीरा बनना चाहती हों···। और जमाने ने उनके घुंघरू बंधे पैरों पर इतने कोड़े मारे हों कि वे नाचना क्या, चलना भी भूल गई हों···।आज चन्दा मौसी मीरा को भाड़ में झोंक रही है और मीरा की बात करने वाली अपनी बेटी को केवल 'रंडी' का अर्थ समझा रही हैं···। क्यों···क्यों होता है ऐसा कि मीरा की बात करने वाली राधाएं कोठों पर खड़ी हो जाती हैं ?

मेरी पीठ पर जड़ी आंखें देख रही थीं···राधा का रुद्ध स्वर सिसकियों में फूट पड़ा है·· मैं और नहीं सह सका । राधा जाने कब तक बैठी रही होगी, मैं नीचे चला आया था। मेरे भीतर का आलोड़न अपने किनारों पर टक्करें मारने लगा था···भंवर में फंसी राधा को निकालने का आवेश भी मन में आया था···किन्तु लहरों से टक्कर लेने का साहस मुझमें नहीं था।

गर्मी की एक चांदनी रात थी। तरतीबवार बने, पॉश बंगलों वाले मुहल्लों में चांदनी भी लाउंज या टेरेस पर कायदे से उज्ज्वल होकर उतरती है···। फिर उस चांदनी में 'स्वीट पी' या रातरानी की खुशबू भी घुल जाती है। लेकिन मेरे मुहल्ले में ऊंची-नीची, जीर्ण छतों पर उतरती चांदनी बेतरतीब और मलिन हो उठती थी। उस चांदनी में कोई खुशबू नहीं, नालियों से उठती दुर्गन्ध घुलने लगती थी···। और तब 'स्वीट पी' की खुशबू की कल्पना करते मैं आंखें मूंद लेता था। फिर, सपनों भरी नींद आ जाती थी।

बहुत गर्मी थी उस रात। सारा वातावरण जैसे एक भरपूर सांस के लिए हांफ रहा था, ऐसी उमस भरी घुटन थी। मैंने देखा, बगल की छत पर कोई आया है—राधा थी।

मैंने देखा, राधा कुछ क्षणों बुत बनी खड़ी उस चांदनी को देखती रही फिर नाचने लगी। वहां कोई लय नहीं थी, कोई धुन नहीं थी, कोई संगीत नहीं था,···वह धीमे स्वरों में 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई···' गाती राधा अपनी ही धुन, अपनी ही लय, अपने ही संगीत पर नाच रही थी···। भंगिमाओं में मुड़ते हाथ और थिरकते पैर···। मैंने देखा, राधा को घेरे वह मलिन चांदनी भी धीरे-धीरे

नाचने लगी थी।

जी चाहा, मुंडेर फादकर जाऊं और राधा को आशीर्वाद दे आऊं कि वह नाच सके···नाचती रहे; लेकिन मुंडेर फादने की निर्दोष क्रीड़ा समझी जाने की हमारी उम्र जा चुकी थी। अब मुंडेर फादना, चोर बनना था। उन क्षणों राधा केवल मीरा थी और मैं केवल उसे आशीर्वाद देना चाहता था। लेकिन मुंडेर फाद नहीं सका था।

मा ने बताया, राधा का रिश्ता आया है। मैं रोटी खा रहा था, कौर गले में फस गया, 'कहा से'?

'अरे, नुक्कड़ पर जो लाला है न उसके यहा से।' मा कुछ परेशान-सी लगी।

'लेकिन उसका बेटा तो अभी छोटा है।' मैंने फसे कौर को पानी के घूट से उतारकर कहा।

'रिश्ता लाला के खुद के लिए है।'

लाला के खुद के लिए? उस मोटे, काले, घिनौने जानवर के लिए, जिसे आदमी कहना मुश्किल है। कौन नही जानता कि वह रात-दिन डडी मारता है, शराब पीता है और आधी रात गए किसी बदनाम गली से लौटता है। नही, मा ने गलत सुना होगा।

लेकिन मा ने ठीक ही सुना था।

राधा आर्तनाद कर रही थी, 'नहीं मा, मैं ब्याह नही करूंगी।'

'ब्याह नही करेगी तो क्या करेगी, बोल, कोठे पर बैठेगी?' चन्दा मौसी राधा को चाटे मार रही थी।

'मैं कुछ काम करूंगी ··और पढूंगी·· तुम्हारे पास रहूंगी·· मा ···मुझे बचा लो··'

'अरे, ब्याह तो हर लड़की को करना पड़ता है· तुझे करना पड़ेगा·· करेगी कैसे नहीं··' चन्दा मौसी ने राधा को कोठरी में धकेलकर साकल लगा दी थी। निरीह से दीखने वाले मौसाजी भी गुर्रा रहे थे, 'रहने दो बन्द चुड़ैल को, दिमाग ठिकाने आ जाएगा।' एक खिरी से यह सब देखता मैं खामोश था। हा, राधा की चोट के दाग मेरे भीतर भी साफ-साफ उभर आए थे।

'चन्दा बताती नहीं है, लेकिन पांच हज़ार रुपया लिया है लाला से।' मां ने दबे स्वर में बताया था। फिर शहनाइयां बजीं, और फूलों से सजी टैक्सी में बैठकर राधा लाला के घर चली गई। सुना, विदा के समय राधा बेहोश हो गई थी।

मैंने पत्रकारिता का धन्धा चुन लिया था और स्वयं को पत्रकार कहने लगा। शहर के छोटे-मोटे अखबारों में छपने लगा। मैं कोशिश कर रहा था कि उस क्षेत्र में कुछ ऐसा करूं कि मेरे धन्धे को कोई अर्थ मिले, मुझे भी। इस अर्थ के चक्कर में सचमुच मैं उलझ गया था···या अर्थ के किसी अदृश्य पाश से बंध गया था। मां भी नहीं रही थी···अब जीने के लिए मुझे बहुत कम चाहिए था। कम या ज्यादा···किसी खुशबू, किसी ऊष्मा, किसी अर्थ के लिए मैं पागल हो उठा था ! प्राय: ध्यान आता, राधा भी तो ऐसे ही पागल हो उठी थी।

राखी पूर्णिमा थी। राधा आई हुई थी। मेरी कलाई पर राखी बांधती राधा बहुत उदास, बहुत पीली थी। मैं देख रहा था, राधा का अंग प्रत्यंग, राधा का मन, राधा की आत्मा, राधा का हर अणु क्षतविक्षत है···। इतने तीर बरसे थे कि राधा का रोम-रोम बिंध चुका था। लेकिन मैंने साफ-साफ देखा, आहत मृगी-सी राधा की उन आंखों में जीने की कामना उद्दाम हो उठी थी। मुख पीला पड़ गया था, लेकिन आंखों में चिनगारियां भड़कने लगी थीं। वह ऐसी शान्त थी जैसे तूफान के पहले प्रकृति होती है।

'कैसी हो ?' मैंने हंसकर पूछा।

'सती हो रही हूं।' राधा ने होंठ काटे। वह एकटक मुझे देख रही थी।

'अरे···सती तो···पति के बाद हुआ जाता है···भगवान ना करे···लाला कुशल से तो हैं?' मैं राधा के उन्माद को समझ रहा था।

'सती हो रही हूं, यानी कि सती बनने की कोशिश कर रही हूं। सीता-सावित्री के देश की हूं न।' लगा, साड़ी का आंचल उमेठती राधा जैसे उस साड़ी को फाड़ देना चाह रही थी···। होंठ काटती

किसी तूफान के वेग को झेलती, जलती आंखों वाली राधा मेरे सम्मुख उन्मादिनी-सी खड़ी थी।

'राधा भाग गई'''राधा भाग गई'''दोनों कुलों को दाग लगा गई' अरे,वो तो हम पहले ही जानते थे कि छोकरी के लक्षण अच्छे नहीं हैं'' मुहल्ले में शोर मच गया था। चन्दा मौसी आंसू बहाती राधा को कोस रही थी, 'मरी कुलच्छनी, पैदा होते ही क्यों न मर गई।' और लाला ने बीच गली में खड़े होकर राधा के पिताजी को हजार गालियां दी थीं।

'राधा भाग गई'' कहां चली गई होगी'''? शायद आत्मघात कर लिया हो'''।' पूरे दो वर्ष गुलाबी सवेरों और चांदनी रातों में राधा मुझे बेतरह याद आती रही। गुलाबी सवेरे में जीवन की ऊष्मा की याचना करती राधा''। चांदनी रात में किसी भीतर की धुन पर नाचती, जीवन का कोई अर्थ मांगती राधा'''। आहत मृगी-सी आंखों में जीवन की कामना लिए राधा'''। फिर, अंगों को ढकती साड़ी को फाड़ फेंकने के लिए उद्यत हो उठी उन्मादिनी राधा।

मैं महानगर चला आया। मैं अपने धन्धे में तरक्की कर गया था। मेरी रिपोर्टिंग इस अर्थ में विशिष्ट होती कि उनमें केवल समाचार के अतिरिक्त भी कुछ होता'''मूल्यों की कोई ध्वनि''' पंक्तियों के बीच में पढ़ा जानेवाला कोई अर्थ। एक प्रसिद्ध सिने-पत्रिका ने मुझे चुन लिया। आदेश मिला कि मैं प्रसिद्ध कैबरे डान्सर मोना का इन्टरव्यू लूं। उस रात 'रिट्ज' में मोना का 'स्ट्रिपटीज' था।

उसी पत्रिका में मोना का चित्र देखता मैं अवाक् रह गया। यह निश्चय ही राधा है। वक्ष के उभारों पर एक क्षीण पट्टी, जांघों के बीच भी केवल एक क्षीण पट्टी'''। सारे अनावृत शरीर को एक उन्मत्त मुद्रा में साधे, वह आंखों में नशीला आमन्त्रण लिए खड़ी थी। 'शी इज आन फायर!' साथी पत्रकार कह रहा था।

रिट्ज होटल का विशाल हाल खचाखच भरा था। रंगीन बल्बों का प्रकाश किसी मायानगरी के सम्मोहन की सृष्टि कर रहा था। हर मेज पर शराब थी। हर दृष्टि में नशा था।

आर्केस्ट्रा बजना आरम्भ हुआ। उस मायानगरी के सम्मोहन में, आर्केस्ट्रा का संगीत जादू जगाने लगा। जाम गिलासों में उंडेले जाने लगे। नज़रें उन्मत हो उठीं। मैंने देखा, वहां पुरुष ही नहीं, महिलाएं भी थीं—संभ्रान्त महिलाएं···जिनकी आंखें पुरुष-आंखों से होड़ कर रही थीं—नशे की होड़।

मैं स्टेज के बिलकुल सामने था।

सहसा प्रकाश बुझ गया। फिर केवल एक नीला प्रकाश फैला और नीले प्रकाश से उस सागर में, सफेद परों से सजी मोना हंसनी-सी तैरती आई। उसने अदा से अभिवादन किया। हाल तालियों से गूंज उठा।

आर्केस्ट्रा के स्वर धीमे हुए, फिर धीरे-धीरे तीव्र होने लगे। मोना के थिरकते अंगों की गति तेज़ होने लगी···धुन और गति में होड़ होने लगी। नीले प्रकाश के सागर में, राजहंसिनी-सी संगीत की लहरों पर तैरती मोना अपने पंख नोचकर फेंकने लगी।

नाचती मोना धीरे-धीरे अनावृत हो रही थी। नारी-अंग के मोहक उभार, नारी अंगों का पवित्र लावण्य अनावृत हो रहा था। वह वासना का आमन्त्रण दे रही थी। सैकड़ों कामुक पुरुषों की आंखें उसपर निबद्ध थीं।

सहसा मोना स्टेज से उतरी। दर्शकों के बीच नाचने लगी। मैं स्तब्ध था। उन्मादिनी-सी नाचती मोना मेरी ओर बढ़ी···मेरे गले में बांहें डालकर झुकी, कान में होंठ सटाकर कहा···'भैया'···! दूसरे ही क्षण और वेग से नाचती वह स्टेज पर पहुंच गई थी। वह सारे पंख नोचकर फेंक चुकी थी। उसने झटके से वक्ष के पंख खींचकर फेंक दिए···मैंने आंखें कसकर बन्द कर लीं···। 'भैया'···शब्द एक आर्तनाद-सा मेरे भीतर प्रतिध्वनित हो उठा था।

नागपाश

"क्या मैं अन्दर आ सकता हूं ?" वही गभीर गुंजित सुपरिचित पुरुष-स्वर छवि के ड्राइंग-रूम में गूंज गया ।

छवि अगरबत्ती-स्टैन्ड में लगी सुलगती, गन्ध बिखेरती पूरी पाच अगरबत्तियों को एकदम देखती द्वार की ओर पीठ किए आत्म-विस्मृत-सी खड़ी थी । सद्य स्नाता···। घने घुघराले केश, सफेद साड़ी के आचल पर, पूरी पीठ पर बिखरे थे । एकाध घुघराली लट किंचित् उज्ज्वल कपोलों पर झूल ही आती थी, जिन्हें अदा में नहीं, कठोरता से पीछे करते छवि कठिन हो उठती थी । धीरे-धीरे विगत छ. वर्षों में, अपने बहुत कुछ कोमल को ऐसी ही कठिनता से, उन रेशमी लटों-सा ही, जूड़े में कठोरता से कसती छवि, जैसे नागपाशों में जकड़ी जाती रह गई है ।

"मैंने कहा, क्या मैं अन्दर आ सकता हूं?" वह गम्भीर गुंजित स्वर फिर गूंजा । छवि की धड़कनों में उस स्वर की अनुगूंज शत-शत प्रतिध्वनियों में ध्वनित हो उठी थी, किन्तु आज होंठ निर्वाक् होकर रह गए थे ।

"क्या बात है छवि ? तबियत ठीक नहीं है क्या, जो मुझे अन्दर आने के लिए भी नहीं कह रही हो ?" वे सधे कदम बढ़े और उन समर्थ, पुष्ट भुजाओं ने सचमुच चकराकर गिरती-सी छवि को थाम लिया । सहारा देते वे कदम, वे भुजाएं छवि को कोच तक ले आईं, "बैठोगी या लेटना चाहोगी ? क्या बात है डॉक्टर को फोन करूं क्या?"

वे पुष्ट, समर्थ भुजाएं, अभी तो छवि के कन्धों को घेरे थीं ·· उनकी सुरक्षा को गहरे महसूसती छवि ने मुंदी पलकों को खोलकर

देखा—उन समर्थ भुजाओं वाली पुरुष-दृष्टि याचक-सी थी…छवि को 'सब कुछ' देने को तत्पर भुजाएं, और मात्र 'कुछ' मांगती-सी आतुर दृष्टि…। छवि को दिनकर की 'उर्वशी' काव्य की कुछ पंक्तियां स्मरण हो आईं…जो विकास के मुख के साथ साकार होतीं, उसकी आंखों में रात-दिन कौंधने लगी थीं—पुरुषोचित प्रबल शौर्य का नारी की मोहक सुकुमारता के प्रति समर्पण !

छवि ने एक सप्रयास मुस्कान में किसी निःश्वास को दबा लेना चाहा…कुछ परे हटती, संयत होती धीरे से हंसी—"तुम भी तो अन्दर आकर पूछते हो कि क्या मैं अन्दर आ सकता हूं ? सच विकी ज़रा भी तो नहीं बदले तुम । एस० पी० हो गए तो क्या, हो वही जाट, हो भी तो हरियाना के !"

विकास ने परे हटती छवि को बांहों के घेरे से मुक्त कर दिया था। सप्रयास मुस्कराती, छवि को गहरी आंखों से देखते उसने भी कदाचित् किसी गहरी निःश्वास को दबा लेना चाहा, हंसने का प्रयास करते बोला, "हूं तो हरियाना का, लेकिन जाट कहां रह गया ? जाट होता तो ऐसे बार-बार नहीं पूछता कि क्या मैं अन्दर आ सकता हूं ? सीधे अन्दर घुस आता । और एस०पी० न होकर, चम्बल घाटी का कोई डाकू होता तो सीधे-सीधे तुम्हें उठा ले जाता…सच छवि ! अब तो जी चाहता है कि एस० पी० का पद छोड़-छोड़कर डाकू बन जाऊं—तुम्हारे लिए ।"

"तुम और डाकू ?" छवि सचमुच हंस पड़ी, "डाकुओं के चेहरे क्या ऐसे होते हैं ?"

"ऐसे…कैसे…?" विकास ने छवि की आंखों में अपनी अभ्यर्थना को देख लिया था…तीव्र हो उठी धड़कनों को दबाने के लिए वक्ष पर हाथ कस लिए थे ।

"जैसे…जैसे कि तुम हो ।" छवि झेंप गई । पल-भर के लिए छवि के विवर्ण मुख पर रंग उभरे…अगले ही क्षण छवि ने जैसे उन रंगों को परे ढकेल दिया…छवि का मुख फिर वैसा ही विवर्ण हो उठा, जिसकी विवर्णता विकास के वक्ष में नश्तर चुभा जाती

थी। छवि के यद-कदा रंजित हो उठने मुख के अल्पजीवी रगों को दीर्घजीवी बनाने के लिए विकास अपने प्राणों का रक्त दे सकता था ···देना चाहता ही था···किन्तु छवि थी कि उन रगों को भी परे ढकेल-ढकेल देती थी और ठीक अपनी श्वेत साड़ियों के, आंचल-सा ही, अपनी मुख को भी कसकर ओढ़े रहती थी···।

पति, मेजर अजय वर्मा के क्षितिज के उस पार जाने के पश्चात् जब छवि इस पार जिन्दगी की स्थूल राहों में भी अकेली खड़ी रह गई थी तो ऐसे ही एक दिन अचानक विकास आया था, और ऐसे ही बोला था, "क्या मैं अन्दर आ सकता हूं ?" किन्तु, उस दिन विकास अनुमति पाने के लिए बाहर ही खड़ा रहा था। सुधि के धुंधलके में खोया सुपरिचित स्वर पलभर में छवि के कानों में, विस्मृति और समय के दृश्यों को नकारकर, वैसे ही गूंज गया, जैसे उन विदा के क्षणों में गूंजा था, "जा रहा हूं छवि, मालिक और नौकर के बीच का यह फासला मिटाने के लिए, तुम्हारे योग्य बनने के लिए···मेरा इन्तजार करना !" वह स्वर सुनते छवि लड़खड़ा-सी गई थी··· विकास ने बिना अनुमति की प्रतीक्षा किए छवि को संभाल लिया था ···और वहीं से घेरे कोच पर बैठाकर ऐसे ही पूछा था, "तबियत ठीक नहीं है क्या ? डॉक्टर को फोन कर दूं?" और छवि···पथराई आंखों से विकास को देखती रह गई थी। अब विकास···विकी लौट आया था, किन्तु अब छवि ही कदाचित् बहुत दूर जा चुकी थी।

उसके पश्चात् छवि जानती थी कि केवल छवि के लिए विकास ने अपना तबादला छवि के शहर में करवा लिया है, अर्थात् विकी समय और स्थितियों के सारे अन्तराल को मिटाकर भी उसका ही है···किन्तु छवि को लगता—विकास के सान्निध्य के क्षणों में छवि को बार-बार ऐसा लगता, जैसे एक नदी के दो तटों जैसे तो वे स्वीकार और समर्पण की तरगों को, प्यार की सरिता के आलिंगन में समेटे भी दो तटों जैसे ही विलग हैं···और उनके बीच है लहरों के आलोडन भवरों के आवर्त्त···जिन्दगी के ज्वार और भाटे, स्थितियों की दूरियां। 'एक नदी के दो किनारे मिलने से मजबूर' जैसी सस्ती

फिल्मी गीत की पंक्ति, छवि को विकास के सान्निध्य के क्षण में आकुल तटों के अलगाव और उनके बीच वहती उन्मादिनी धारा की अत्यधिक सटीक उपमा लगती—सटीक, गंभीर, गहन

प्रथम दिन, मेजर अजय वर्मा के चित्र के सम्मुख कैप उतारकर, एक मिनट की मौन श्रद्धांजलि देते विकास की आंखें नम हो आई थीं, "सव सुन चुका हूं छवि! तुमपर जो भी गुजरी है, उसे सुना ही नहीं, महसूस भी किया है और अव जव लगा है कि तुम्हें शायद मेरी आवश्यकता हो, तो विना वुलाए चला आया हूं···मैंने गलत तो नहीं किया ?"

छवि ने नम आंखों वाले सवल, समर्थ पौरुष युक्त विकास को, सामने वैठे अपने स्वप्न को···वर्षों वाद साकार देखा तो देखती रह गई थी—निःशव्द, निर्निमेष ! एस०पी० की वर्दी में कैसा उच्चाधिकारी अफसर, छः फुटा विकी, उसके सामने अपराधी के समान याचक जैसी मुद्रा में वैठा था···कमरे की फिजां में उनके तीव्र धड़कते वक्षों के ध्वनित हो उठे स्पंदन अप्रकट में केवल वे दोनों ही सुन पा रहे थे, प्रकट में सव कुछ खामोश था—हवा, दीवारें··· छवि और विकी के होंठ। स्वरहीनता, निःशव्दता भी इतनी प्रवल शव्दमयी हो सकती है, यह छवि ने उस दिन पहली वार जाना था । नेपथ्य में स्वरों के प्रवल झंझावात को झेलती छवि ने, प्रकट में सहजता से मुस्कराने का प्रयास करते, हवा के सहज झोंकों से स्वर में पूछा था, "कैसे हो विकास, तुम अपनी वताओ ? मैं न सही, तुम तो सुखी हो। इतने ऊंचे अफसर वन गए हो। सुना, शादी कर चुके हो और पत्नी खूव-खूव सुन्दर है। अपने कितने नन्हे प्रतिरूप तैयार कर दिए ?" मुस्कराती छवि हंसने लगी थी अपने ही परिहास पर। चाह रही थी कि विकास भी हंस पड़े और कुछ देर के लिए हवा, दीवारें उनके होंठ सव मुस्कराते रहें···मुस्कराने का अभिनय ही करें।

किन्तु उत्तर देता विकास, अभिनय नहीं कर सका था। छवि की आंखें सूखी थीं···विकास की आंखें, स्वर सव आर्द्र हो उठे थे, "···हां छवि ! वहुत खुश हूं। ऊंचा अफसर वन चुका हूं, पत्नी भी

सचमुच खूब सुन्दर है, दो प्रतिरूप भी तैयार हो चुके हैं—अविरल और सरिता। किन्तु इतने ढेर सारे सुखों के बीच भी तुम्हारा विकी, कितना अकेला है···इसे क्या तुम्हें भी [illegible]···छवि ? मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो—तुमने मेरा इन्तजार क्यों नहीं किया ?"

छवि ने आँखें उठाईं, "कैसे इन्तजार करती, मैं बहुत असमर्थ थी विकी, बहुत अकेली और फिर एक अकेली लड़की परिवार का, समाज का सामना कैसे करती ? लेकिन तुमने भी तो इन्तजार नहीं किया। और जिस अधिकार से तुम मुझे इन्तजार करने के लिए कह गए थे, उसके बल पर, सबल पुरुष होने के नाते, तुम तो इन्तजार कर सकते थे···किन्तु तुमने भी तो उस इन्तजार को झुठला दिया···फिर अब आज क्यों, किसलिए, किस अधिकार से मेरे पास आए हो···बस वही सब दुहराने ?"

विकास आहत-सा स्तब्ध रह गया, "तुमने मुझपर जो इलजाम लगाया है, उसकी सफाई अपनी ओर से कर दूंगा···तुम विश्वास करो, न करो··· तो सुनो ! मालती की तो याद है तुम्हें, मेरी छोटी बहन। जानती तो हो, पिताजी उसका विवाह कर पाने में असमर्थ हो चुके थे, मुझसे बड़ी तीन बहनों की डोली उठाते, उनकी अर्थी ही उठ गई थी। मालती तरुणाई के द्वार पर खड़ी, यौवन की नैसर्गिक पुकारों को सुनती, द्वार की लक्ष्मण रेखा लांघती-दौड़ पड़ी थी, पड़ोस के एक युवक की बाहों में बंधने और उसे गर्भ रह गया था···। उस युवक के परिवार वालों की एक ही शर्त थी कि मैं उनकी बेटी को स्वीकार कर लूं, तो वे मालती को स्वीकार कर लेंगे। [illegible], मैंने उनकी शर्त स्वीकार कर ली, उन्होंने मालती को स्वीकार कर लिया। आज कम से कम मालती तो सुख से है। पूरे चार [illegible] कर लिए हैं और इतनी मुटा गई है कि उसे देखकर तुम [illegible] वजन का भी अन्दाज लगा सकती हो !" [illegible] धीमा, तरल, अति आर्द्र हो उठा, "सुख के वजन के [illegible] भी देखने में कम वजनदार नहीं हो गया हूं···किन्तु [illegible] सचमुच बिलकुल वजनहीन होकर रह गई हो। [illegible]

···हां, रश्मि और राकेश को स्कूल के लिए तैयार करती, उन्हें यूनीफार्म पहनाती, ब्रेकफास्ट कराती, उनके बाल संवारती, फिर उन्हें कार में स्कूल के लिए भेजती, छवि, कार के ओझल होती ही, सहसा एकदम अकेली हो उठती थी···रोज़ नये सिरे से। रोज़ नये सिरे से एक यातना को जीते उसे लगता था कि पीड़ाएं चिर सहचर होती हैं···सुख बहुत जल्दी बासी हो जाते हैं, लेकिन घाव हरे बने रहते हैं।

फिर वह दौड़ती-सी बाथरूम में घुसकर शावर के नीचे बैठ जाती थी, प्रायः विवश हुए बिना ही···पूरे वस्त्रों सहित। शावर की फुहार के नीचे बैठी छवि को प्रायः समय की सुधि भी नहीं रहती थी, उन फुहारों के नीचे जैसे उसकी कोई तपन ठंडी होने लगती थी···हो जाती थी···किन्तु कहां···? दूसरे दिन वह तपन भी तो नये सिरे से तप उठती थी।

गर्मियों में तो खैर, ठंडे शावर के नीचे बैठी छवि, मनचाही देर लगा लेती थी, किन्तु जाड़ों में धाय मां बाथरूम का दरवाज़ा पीटती चीखने लगती थी, "ये ल्लो। इहां पर गरम पानी तैयार किए बैठी हैं और तुम ठंडे पानी से नहाय रही हो। नहाओ, नहाओ, खूब मारो अपने को और साथ में इस बुढ़िया करमजली को भी। इसी दिन के लिए तो तुमका दूध पिलाके जिलाय था कि आज तुमका मरती देखें तिल-तिल जलती देखें···हे राम ! हमका उठाय लो परभू।" और धाय मां सिर पीटती, फूट-फूटकर रोने लगती थी। धाय मां की चीख-पुकार से विवश होकर छवि ने जाड़ों में शावर के नीचे बैठना छोड़ दिया था, फिर भी जब-तब वह अपने को रोक नहीं पाती थी ···धाय मां की आंखें बचाकर शावर के नीचे बैठ ही जाती थी··· किन्तु···बर्फीले पानी से नहाकर थरथर कांपती छवि को फिर भी लगता कि उसकी शिराओं में तपन वैसी ही है···।

नहाकर, प्रतिदिन एक ही-सी साफ सफेद साड़ी लपेटकर, घने, घुंघराले केश बिखेरे वह ड्राइंगरूम में आती, अगरबत्तियां सुलगाती···और फ्लॉवर पॉट के सजे फूलों को अपलक देखती बैठी रहती—देर तक। सामने कार्निस पर मेजर अजय वर्मा, उसके पति

का चित्र मुस्कराता होता और छवि सूखी आंखों से रोती होती।

अजय चीन-पाकिस्तान-युद्ध में शहीद हो गए थे। मृत्योपरान्त सरकार से सम्मानित अजय वर्मा का नाम अखबार की सुर्खियों में छपा था, चित्र भी। फिर वह चित्र अजय वर्मा के ड्राइंगरूम में कार्निस पर सजा और छवि की आंखों में धसा रह गया था। अजय क्षितिज के उस पार जा चुके थे, छवि को इस पार छोड़कर···अजय और छवि के बीच जीवन और मृत्यु की दूरियां फैल गई थीं···अजय की तो खैर, वास्तव में मृत्यु हो चुकी थी, तीन गोलियां उसके सीने के पार हो गई थीं···किन्तु छवि को जो जीवित मृत्यु झेलनी पड़ रही थी, उसके त्रास को झेलती छवि को लगता, उसके वक्ष में धसती शब्दहीन आकारहीन गोलियों की सख्या, संख्यातीत है।

अजय की मृत्यु के समय राकेश और रश्मि छ-छ वर्ष के थे—वे जुड़वा थे, कद रंग-रूप और प्रकृति में अद्भुत साम्य लिए थे। एक साम्य वे दोनों और लिए थे—मां छवि का नहीं, पिता अजय का ही रंग-रूप और प्रकृति सभी में। अपने 'एरोगेन्ट' पिता-सा ही उद्दंड था राकेश। रश्मि, कदाचित् लड़की होने के कारण उतनी उद्दंड नहीं थी, किन्तु छवि की मृदुलता या सुकुमारता उसमें भी नहीं थी। धाय मां दोनों की पकड़-धकड़ करती, चीखती होती थी, "निगोड़े दुइनो बाप पर गए हैं। अरे, कोई तो मां जैसा होना, तो का छवि बिटिया इतनी अकेली होती!·· अरे छवि बिटिया के तो भाग शुरू में ही फूटे रहे···पैदा भई तो मां अकेली छोड़ गई··· बाप ने बरस बीतते न बीतते दूसरा विवाह रचाय लिया। हमने का किया, पैसा लिया, दूध पिलाया, कौनो मां-बाप का दुलार दिया का?···चलो राम-राम कर जी गई, बड़ी भई तो जिसे चाहा, ऊ न मिला अऊर सब मिला···फिर वह साथ छोड़ गए। पता नहीं···छवि कैसा भाग लेकर आई है, जो कबहूं हंसी नाहीं·· हम ही नाहीं सकी···मुदा हस तो सकत है···" धाय मां का स्वर अस्फुट हो उठता, "लेकिन ई पारवती जी का कौन समझाए कि अब भी शिव जी तो इनके दुआरे आ खड़े भए हैं···तबहूं ई तपस्या करै जाय रही है, काहे बदे···!"

सचमुच छवि को समझना या समझाना कठिन था।

वर्षों का अन्तराल पार कर जब विकास फिर अचानक छवि के द्वार पर आ खड़ा हुआ था तो धाय मां के अस्फुट स्वर स्पष्ट होने लगे थे, उसके इंगित भी। किन्तु छवि सब कुछ को नकारे जा रही थी—विकास को, धाय मां को और सबसे अधिक स्वयं को।

धाय मां से छवि का किशोरी से तरुणी होती छवि का अन्तर्गत, उसकी कामना, छिपी नहीं थी। विकास को देखते ही छवि की आंखों में जो अदृश्य कामना जागती, होंठों पर जो अनकही प्रार्थना उभरती, उसे छिपाने, छवि धाय के वक्ष में मुख छिपा लिया करती थी··· और विकास, उस सबके प्रति एक अभ्यर्थना-सी लिए भी मौन रहा आया था। छवि विकास की आंखों की भी कामना थी, विकास के होंठों की प्रार्थना भी। किन्तु छवि सेठ पन्नालाल की बेटी थी और विकास उसके मुनीम कालीचरन का बेटा। छवि और विकास के नैकट्य के बीच, उनके पिताओं की स्थितियों के फासले थे—यद्यपि होनहार, प्रतिभावान विकास उन फासलों को छलांगता हुआ पार कर रहा था, किन्तु समय विकास की छलांगों से अधिक तेज़ दौड़ रहा था। छवि युवती हो चली थी। बी० ए० ऑनर्स हो चुकी थी। और विमाता, विकास और छवि के बीच पनपते स्नेह के अंकुरों को उखाड़ फेंकने के लिए व्यग्र हो उठी थी···छवि की सौतेली पुत्री होने की यही सज़ा थी।

धाय मां ने, साहस बटोरकर एकाध बार सेठजी से विकास का जिक्र किया भी था, छवि के संदर्भ में, तो उनका लक्षाधिपति होने का दर्प गुर्रा पड़ा था, "पागल हुई हो धाय मां! मेरी बेटी, सेठजी की बेटी होकर एक मुनीम के घर जाएगी? रोटी-बेटी का व्यौहार बराबर वालों में होता है—मालिक और नौकरों के बीच नहीं।"

विकास ने सेठजी की गुर्राहट को अपने कानों से सुना था और फूट-फूटकर रोती छवि के मुख को केवल एक बार हथेलियों में भर कर कहता छोड़ गया था, "जा रहा हूं छवि, मालिक और नौकर का यह फासला मिटाने के लिए, तुम्हारे योग्य बनने के लिए···मेरा

इन्तजार करना।"

किन्तु छवि के वश में वह इन्तजार करना भी कहा था ? एक-एक वर्ष के अन्तर पर विमाता से जन्मी तीन बहनें भी वय सन्धि को पार कर रही थीं, तो सबसे पहले छवि को ही विवाह-वेदी पर चढ़ना था कि फिर वे तीन भी अपना-अपना प्राप्य शीघ्र पा सकें। विमाता का तर्क यही था, "छवि सबमे बड़ी है। उसका ब्याह हो ले, तो मेरी राजकुमारियों-सी बेटियों के भी हाथ पीले हों। अरे कोई मेरी राजकुमारियों को राजकुमारों की कमी नहीं है। रोज ही रिश्ते आ रहे हैं · बस, इस छवि के मारे मेरी बेटियों का मेहदी-महावर टलता जा रहा है।" विमाता ने तीन पुत्रियों के पश्चात् एक पुत्र, अर्थात् कुलदीपक वंशधर को जन्म देकर, सेठजी को अपने पूरे अधिकार में कर लिया था। सेठजी केवल व्यापार चलाते थे, शेष सब छवि की विमाता के इंगितों पर चलता था। मजाल थी कि विमाता के इंगित के बिना पत्ता भी हिल जाए।

छवि ने एक वर्ष मौन विद्रोह किया, फिर विमाता से डबडबाती आखें लिए प्रार्थना भी की, "मा, मुझे ऐसे ही रहने दो या मुझे कहीं और भेज दो। मैं ब्याह नहीं करना चाहती, पढ़ना चाहती हू। तुम इजाजत दे दो, तो मैं धाय मा को लेकर नानी मा के पास चली जाऊ उनके गाव। वादा करती हू, कभी नहीं लौटूगी।"

सुलगती विमाता आग हो गई, "हा, हा, जा गाव में भाग न जा उसके साथ, जिसके इन्तजार में पारवती बनी बैठी है। लगा दे अपने बाप के मुह पर कालिख और जो चाहे सो कर!"

विमाता का कुतर्क अकाट्य था। छवि को सस्कारों और उन्हीं कुतर्कों के नागपाशों से बाधकर अजय वर्मा के पार्श्व में खड़ा कर दिया गया था। छवि से उम्र में दस वर्ष बड़े मेजर अजय वर्मा के पार्श्व में, उनकी पत्नी के रूप में। धन, पद, सब कुछ था मेजर वर्मा के पास और पत्नी का ही नहीं, सन्तान का स्थान भी रिक्त था, 'अरे, हमारी लाड़ो के तो भाग खुल गए जो ऐसा रिश्ता आया। वह तो छवि बड़ी है, अच्छा नहीं लगेगा, वरना मैं तो अपनी सविता के लिए

मेजर का रिश्ता सिर-आंखों पर ले लेती। बस, एक उम्र ही तो कुछ ज्यादा है, तो मर्द की उम्र नहीं देखी जाती। छवि के पिताजी भी तो मुझसे···इत्ते ही बड़े मिले, तो क्या कमी रही···?"

और प्रकट में रेशमी पाशों से बंधी, किन्तु अप्रकट में किन्हीं नागपाशों से जकड़ी, छवि ने मेजर वर्मा के साथ अग्नि की सात प्रदक्षिणाएं लेते, अपनी डबडबाती आंखों को मूंदकर, विकास की मूर्ति बसाए मन के एकान्त कक्ष के कपाट कसकर बन्द कर लिए थे···प्यार के द्वार पर कर्तव्य का, धर्म का ताला जड़ दिया था···।

छवि ने तो अपनी डबडबाती पलकें, थरथराते होंठ कस लिए थे, किन्तु धाय मां वधू-वेश में सजी छवि को छाती से सटाती आर्त्तनाद कर उठी थी···उस आर्त्तनाद का अर्थ केवल छवि ही समझ सकी थी, वह आर्त्तनाद छवि के निःशब्द चीत्कारों की प्रतिध्वनि जो थी···धाय मां, छवि के साथ छवि के घर आ गई थी, छवि के दहेज के साथ। "हम छवि बिटिया के बगैर नहीं जी सकती ! हमका बिटिया के साथ जावैं दीजिए···" रोती, कलपती धाय मां ने छवि के साथ बनी रहने की अनुमति पा लीथी—सेठजी से भी, मेजर अजय से भी।···और नागपाशों से जकड़ी छवि, उन नागों के दंश के विष से नीली पड़ती छवि, केवल धाय मां की ममता के अमृत-स्पर्श से जीती रह गई थी।

दो वर्ष छवि के शहर में रुकने के पश्चात् आज विकास जानेवाला है—जाने से पूर्व आनेवाला है। तीन दिन पूर्व आया था, तो कंपित कंठ से सूचित कर गया था, "रविवार के सवेरे आऊंगा छवि, तुम्हारे हाथ की बनी चाय पीने के लिए और एक बार फिर पूछने के लिए भी कि क्या तुम्हारे इन हाथों को चाय सहित जीवन भर पाने का सौभाग्य पा सकता हूं···?" विकास का गंभीर स्वर बहुत सघन, गहन हो उठा था, "विश्वास करो छवि ! मेरे हाथों को तुम्हारा हाथ थामे, ज़िन्दगी की फूलों से भरी या कांटों-भरी राहों पर, साथ-साथ चलने की वह पागल चाह आज भी वैसी ही है और अगर एक बार तुम अपने हाथों को मुझे सौंपोगी तो ये जीवन भर तुम्हें थामें नहीं, कसकर बांधे रहेंगे—जानती हो न ये पुलिस

अफसर के हाथ हैं···।" वाक्य समाप्त करते विकास विकल हो उठा···छवि के दोनों हाथों को अपनी हथेलियों में फूलों-सा भरते उनपर होंठ रख दिए···छवि ने न हाथ छुड़ाए···न एक भी शब्द ·· बस, पाषाण-सी अचल होकर रह गई···।

"माफ करना छवि ! लाख संभाला, फिर भी इतना तो गलत हो ही गया·· जा रहा हूं···तीन दिन बाद फिर आऊंगा·· या तो तुम्हें सदा के लिए पाने के लिए, या फिर···"

"सदा के लिए छोड़ जाने के लिए···!" वाक्य छवि ने पूरा कर दिया था। विकास के होंठ, प्रत्युत्तर देने के लिए कांपे थे, किन्तु उन्हें कसता, वह लम्बे डग भरता सहसा उठकर चला गया था···वैसे छवि से बलपूर्वक स्वय को दूर ले जाने के लिए···छवि से स्वय को दूर करने का विकास का वह प्रयास, विकास के कसे होंठों में लेकर, पुष्ट पुरुष-अंगों का वह कंपन, छवि से छिपा न रह सका था·· विकास लड़खड़ाता-सा चला गया था···छवि लड़खड़ाती-सी बैठी रह गई थी। लड़खड़ाहट में भी यदि गति हो तो शायद उसका नाम उतना त्रासद नहीं होता, जितना निस्पन्द होती, पथराती लड़खड़ाहट का·· जो किसी मृत्यु की पूर्व सूचना-सी होती है·· छवि अपनी ऐसी ही मृत्यु को अपने नागपाशों के कसते पाशों के बीच देखती बैठी रह गई थी।

शनिवार की शाम, छवि देर तक शावर के नीचे बैठी रही थी··· धाय मां ने दरवाजा पीटकर खुलवाया था, फिर सिर पीटती बोली थी, "छवी बिटिया ! आखिर कउन माटी की बनी हो तुम·· ? हाड़-मांस की या पाथर की? चलो बाल सुखाओ, साड़ी बदलो, और तनी सोचकर देखो—काहे विकी बाबू को ठुकराय कर सारी जिन्दगी को ठोकर मार रही हो···कैसे काटोगी पहाड़-सी जिन्दगी···? औरत जात। और फिर इत्ता तो सोचो कि विकी बाबू पर का गुजरेगा। सार इत्ता बड़ा पुलिस का अफसर, इत्ता जबर्दस्त·· अऊर तुम उन्हका रुलाय मारा। धन्न हो रानी । अबहूं मान जाओ तो हमऊ चैन से मरे पी सोचें।" सिर पीटती धाय मां ने छवि को खींचकर अंक में

र लिया था···छवि कांप रही थी थरथर, "लेओ, हम कह
ाखिर जाड़ा लागै लागा···अब जुर चढ़ेगा और फिर तुम जरूर
पोगी। काहे ठंडी-गरम होत रहत हो विटिया···काहे नाहीं विकी
वावू की सारी सरदी-गरमी सउंप देती···?"

छवि ने धाय मां को कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया वेडरूम की खिड़की पर वैठी केश सुखाती, सिर्फ एक प्याला चाय पीकर पंचमी के चांद को, वहुत पीले चांद को रात देर तक, अपलक, डूवते देखती वैठी रही। सवेरा हुआ, तो खिड़की पर सिर टेके सो गई—छवि को जगाती धाय मां कह रही थी, "उठौ, विकी वावू आए हैं, वैठे हैं!" छवि ने देखा—धाय मां की आंखें सुर्ख थीं, शायद सारी रात वह भी जागी थी और उसका स्वयं का मुख पीला था···रात के चांद जैसा···। दर्पण में अपने पीछे मुख के चारों ओर छिटकी नागिन-सी केशराशि को आज छवि ने जूड़े में नहीं कसा, वैसी ही अस्त-व्यस्त विकास के सन्मुख आ वैठी, देखा—विकास की आंखें सवेरे की लाली जैसी गुलावी लाल थीं···उन आंखों में एक नये सवेरे का आमन्त्रण भी था, रात भर की प्रतीक्षा भी!

"धाय मां, चाय लाओ!" छवि ने आवाज़ दी।

"आज हम चाय-वाय नहीं लावेंगे। तुमही जो चाहे सो वना
लेओ···हमार मूड़ पिराय रहा है···हम नाहीं उठ सकत। एक दि
तुम्हीं विकास वावू के वदे चाय वनाय दोगी तो का हो जाएगा
अभी अऊर कोऊ आय जावै तो देखौ, हमार विटिया कैसी खा
करत हैं। अरे राकेस, रस्मी के दोस्त ही आ जावैं तो ई घंटों न
हैं उनके वदे···अऊर अभी पाथर वनी वैठी हैं···" धाय मां
आंसुओं से भीगा रोप, विकास के सन्मुख भी स्पष्ट हो उठा।

छवि उठी···चाय का पानी केतली में रखती ढंकना भूल
उस पानी को खौलते, उवलते देखती रही···जाने कव तक
मां किचन में आ गई, "हम कहा धन्न हो विटिया! उ
इन्तज़ार में वैठे हैं अऊर तुम चाय वना रही हो या खीर
हमई लावत हैं···हे भगवान! हे राम जी···!" छवि अ

सी, बिना धाय मां से आख मिलाए ड्राइंगरूम मे आ बैठी—नि.शब्द' पलकें झुकाए।

धाय मा चाय की ट्रे रखती, ड्राइंगरूम के परदे खींचती गई। "अब चाय प्याली मे तो डाल दो छवि या आज अपनी किस्मत में इतनी भी नही है···और देखो, आज चाय मे शक्कर बिलकुल मत डालना ···तुम्हारा स्पर्श काफी है!"

किन्तु छवि ने शक्कर, चाय, दूध सब यथावत् मिलाया, प्याला विकी के हाथों में देती, नम आंखो से मुस्कराई, "विकी! इस उम्र तक पहुंचते-पहुंचते स्पर्शों मे मिठास कहा रह जाती है? रह जाती है केवल कड़वाहटें! मैं अपनी सारी मिठास खो चुकी हूं विकी···अब मेरी कड़वाहट लेकर क्या करोगे···?"

"तो यही तुम्हारा फैसला है?" विकी का आरक्त होता मुख रक्तहीन हो उठा।

"फैसला नही, विवशता है विकी···! स्थितियों की, जिन्दगी के नागपाशो से जकड़नो की विवशता···ये नागपाश मुझे इतना कस चुके है, इन नागो के दशों का जहर मेरी नसो मे तो इतना घुल चुका है कि मैं अब चाहूं भी तो न इन नागपशो से मुक्त हो सकती हूं···न इस जहर से···"

"और यदि मैं कहूं कि मैं इन नागपाशों को काटकर फेंक सकता हूं।" विकाम की आंखो मे एक तड़प कौंध गई—विद्युत-सी वह तड़प विकाम की आखो से छूटती छवि के वक्ष पर गिरी ··समा गई ···उस विद्युत के प्रहार को झेलती छवि जलकर राख होने लगी थी ···चाय के दोनो प्याले वैसे ही ठडे हुए जा रहे थे।

"मुझे तुम्हारी सामर्थ्य मे सन्देह नही विकी, मुझे गलत मत समझो। तुम मेरे इस जीवन के स्वप्न रहे आए हो, रहे जाओगे · किन्तु इस सपने को सच करने का कोई मूर्त रूप देना या लेना, मेरे वश मे नही है···"छवि का स्वर इतना व्यथित था कि विकाम की आखो में आसू डबडबा उठे थे···किन्तु छवि की, स्वय की आखें सूखी ही थी · पीडा को जिस सीमा को छूकर आंसू सूख जाते हैं, छवि कदाचित् उन

ओं के भी परे जा चुकी थी ।

'तुम कारण जानना चाहोगे, तो सुनो । अब प्रश्न केवल मेरा तुम्हारा नहीं, मेरे राकेश और रश्मि का, तुम्हारे आकाश और रिता का, और सबसे अधिक तुम्हारी निर्दोष पत्नी का भी है। पनी पत्नी से स्वयं को छीनकर मुझे देते, क्या तुम उसके प्रति अप-राधी नहीं हो उठोगे·· ? तुम तो एस० पी० हो·· न्याय के रक्षक ! क्या इतना बड़ा अन्याय स्वयं कर सकोगे ?''

गंभीर छवि सहसा एक नारी-सुलभ परिहास कर बैठी, "और फिर, ऐसा मुझमें क्या है विकी ! सुना, तुम्हारी पत्नी मुझसे कहीं ज्यादा सुन्दर है ! रश्मि-राकेश के पापा तो मुझसे कहा करते थे, "तुम्हारी जैसी साधारण रूप-रंग की लड़की को अपनाना भी मेजर अजय के लिए कम सैक्रीफाइस की बात नहीं थी, वरना मेरे लिए हीरोइन जैसी सुन्दरियों के ऑफर थे । वह तो मेरे पिता तुम्हारे पिता के एहसानमन्द थे, मुझे मेजर बना देने के लिए, वही एहसान चुकाया है मैंने।' ''

मेजर वर्मा का अपमान सुनाती छवि हंस रही थी, किन्तु उस अपमान को सुनते विकी उबल उठा था, "जो तुम्हें सुन्दर नहीं मान सके, वे ही अन्धे थे !'' अगले क्षण विकी का रोष, मृदुल-तरल हो उठा, "मैं भी मानता हूं छवि की तुम्हारी आंखें नीली झील-सी नहीं हैं, फिर भी उनकी गहराइयों में डूब जाने को जी चाहता है··· तुम उन चम्पा के फूलों-सी रूपमयी नहीं हो, इन अगरबत्तियों-स गन्धमयी हो··· जिसे सांसों में भर लेने को मैं पागल रह आया हूं

अपनी यह अभ्यर्थना सुनते छवि के विवर्ण कपोल, कुछ पलों लिए रंजित हो ही उठे···छवि का मन भी पागल हो उठा कि वि की उस अभ्यर्थना को स्वीकार कर ले···विकास के सुदृढ़ वृक्ष पुरुष अस्तित्व से लता-सी लिपट जाए···किन्तु उसके रंजित फिर विवर्ण हो उठे थे···कदाचित् विवर्णता ही उन कपोल नियति बन चुकी थी ।

"और क्या, तुम्हें जीवन भर ऐसे ही अरक्षित, तीरों की

के बीच अकेली खडी छोड देना भी एक अन्याय नही है?" विकास उठकर छवि के पार्श्व मे आ बैठा था, "छवि, जिन नागो का तुम जिक्र करती रही हो, भीतर-बाहर के उन नागो के बीच तुम्हे डसे जाने के लिए कैसे छोड़ दू? क्या तुम मुझे कायर भी बना देना चाहती हो?" विकास ने धीरे-से छवि के कन्धे घेर मात्र लिए थे···छवि स्वय उन समर्थ भुजाओ के घेरे में सिमट आई कुछ पलो के लिए···फिर स्वय ही उस कोमल मोहपाश से स्वय को मुक्त करती परे हट गई, अपने कठिन नागपाशो को स्वय ही कसती, "जानते हो विकास! मैंने राकेश और रश्मि के अबोध मन टटोले थे—जानना चाहा था कि वे तुम्हे स्वीकार कर सकेंगे या नही? परसों, तुम्हारे जाने के पश्चात् मैं रात देर तक उनके साथ बनी रही, कहानिया सुनाई, उनकी पसन्द की लोरी भी, फिर धीरे-से पूछा था—'राकेश, रश्मि तुम्हें विकास अंकल कैसे लगते हैं?'··· 'बहुत अच्छे लेकिन···' कहती रश्मि रुक गई थी, 'लेकिन पापा जित्ते नही···' राकेश ने वाक्य पूरा कर दिया था···।"

छवि ने भी अपना कथन पूरा कर दिया था···विकास छवि को नही, अपलक, कार्निस पर मजे मेजर वर्मा के चित्र को देखे जा रहा था···जिसपर छवि प्रतिदिन चम्पा के कुछ फूल चढ़ा देती थी—विकास को याद आया, चम्पा के पुष्प भौरों को पास नहीं आने देते —जाने क्यो?

और छवि सहसा, अपने नागपाश जैसे केशों को जूडे में कसने लगी थी···बार-बार कपोलो पर झूल आती एकाध लट को भी, आज जैसे जूडे के बन्धन में कस देने पर तुल गई थी···।

ये दूरियां

परसों मेरा बर्थडे था···मेरी सत्रहवीं सालगिरह, मम्मी ने अपने हाथों मुझे संवारा था और फिर मुझसे कहा था, अंजु आज गा 'क्यों मुझे इतनी खुशी दे दी कि घबराता है दिल···।' जी चाहा कि कहूं, नहीं मम्मी मेरा तो गाने को जी चाहता है 'ऐ दिल, मुझे ऐसी जगह ले चल, जहां कोई न हो···।' लेकिन मैंने कुछ नहीं कहा केवल मुस्कराकर रह गई। मम्मी ने समझा होगा शायद मैं शरमा गई। अच्छा है मम्मी का यह भ्रम बना रहे कि मैं इतनी खुश हूं कि गा सकूं, 'क्यों मुझे इतनी खुशी दे दी कि घबराता है दिल···!'

फिर मेहमान आने लगे। फीरोजी टैंपल साड़ी का आंचल सम्भालती, सुनहरी सैण्डलों की एड़ियों पर अपने कोमल तरुण शरीर का भार तोलती, आई-शैडो से रंगी पलकें झपकाती, मुझे लग रहा था जैसे मैं युवा हो गई हूं। किन्तु युवा होने के मधुर स्वप्निल अहसास के साथ मेरी जिन आंखों को सपनों में डूब जाना चाहिए था, उन आंखों की नींद जैसे मखमली सेज पर भी बार-बार टूट रही थी।

सत्रह मोमबत्तियों को फूंक से बुझाती 'हैपी बर्थडे टू यू' सुनती, केक का टुकड़ा खाती और खिलाती मैं बार-बार सपना देखती आंखों के खुल-खुल जाने को झेल रही थी। राकेश ने 'मेनी हैपी रिटर्नस् टू यू' कहते हुए जिन गहरी निगाहों से मुझे देखा, उनमें मुझे डूब जाना चाहिए था, पर मैं डूबते-डूबते रुक गई···सहजता से 'थैंक्स' कहा और ध्यान से देखा, राकेश के चेहरे पर पापा का चेहरा था। मुझे लगा, मेरा चेहरा मम्मी का चेहरा हो गया है···क्या हो रहा था मुझे? मैंने सिर को हल्का-सा झटका दिया था, मैं अंजू हूं, अंजना

"'मिस्टर वीरेन्द्र देसाई, आइ० ए० एस० और मिसेज सुहासिनी देसाई, वीमेन्स कालेज की प्रिन्सिपल की एकमात्र लाडली। सहेलियां कहती है कि उन्हें मेरे भाग्य से ईर्ष्या होती है। कितनी अच्छी मम्मी है मेरी कितनी 'क्वालिफाइड'! कितने अच्छे पापा हैं मेरे, कितने 'डिग्नीफाइड'! और'''कितनी अच्छी हूं मैं, ब्यूटीफुल, ब्रिलियन्ट, स्मार्ट!

राकेश मेहमानों के बीच मुझसे सटा-सटा चल रहा था। मैंने देखा, राकेश को और मुझे इतने निकट देखकर मम्मी की रीती आंखें भरी-भरी लग रही थीं। मैं जानती थी कि वह राकेश को मेरे जीवन-साथी के रूप में देखने की कामना रखती हैं। राकेश को और मुझे साथ देखकर उनकी खूबसूरत आंखों में दीपक-से जल उठते हैं। वरना तो मैं अक्सर सोचा करती हूं कि मम्मी की ये खूबसूरत आंखें इतनी बुझी-बुझी-सी क्यों रहती हैं, जबकि वह मसकरा और आई-शैडो का प्रयोग निहायत खूबसूरती से करती हैं। मुझे लगता है उनकी रीती आंखों में केवल साड़ियों के रंग झिलमिलाकर क्यों रह जाते हैं, वे रंग क्यों नहीं झिलमिलाते जो शायद कहीं भीतर से आते हैं।

मम्मी की भरी-भरी आंखों को कनखियों से देखती, अपने में डूबती मैं राकेश से 'स्वीट नथिंग्स' की बातें करने लगी थी। पापा अभी नहीं आए थे। मम्मी मेरे पास आई, 'देखो अजू आज भी तेरे पापा को फुरसत नहीं है।' उनकी भौंहें टेढ़ी होने लगी थीं, मेरी सपना देखती आंखों की नींद उचट गई थी'''क्यों नहीं आए पापा, उन्हें आना चाहिए था! तभी पापा आए। पीछे-पीछे एक बड़ा-सा बंडल उठाए शोफर था। 'लेडीज एंड जेंटलमैन, आज आप सबके सामने मैं अपनी बेटी को जिन्दगी की हकीकत प्रेजेंट कर रहा हूं। हमारी-आपकी सबकी हकीकत!' कहते हुए पापा ने बंडल का कवर खींच दिया।'''मानव की हड्डियों का ढांचा, एक 'स्केलेटन' सामने था! मेरी तो चीख निकलते-निकलते रह गई। मम्मी का चेहरा आवेश से लाल हो गया। लेकिन पापा थे कि उन्मुक्तता से हंसे जा रहे थे। फिर पापा मेरे निकट आए और जेब से एक मोतियों की

माला निकालकर मेरे गले में पहनाते मुझे चूम लिया। कुछ देर पहले मम्मी ने भी मुझे चूमा था। पापा और मम्मी के चुम्बन के बीच आज यह स्केलेटन आ गया। मैं जानती थी मम्मी को पापा का इतनी देर से आना और यह स्केलेटन लाना ज़रूर बुरा लगा होगा। पापा ने मुझे मोतियों की माला भी प्रेज़ेंट की थी, लेकिन मैं खूब जानती थी कि मम्मी को स्केलेटन ही याद रहेगा, मोती की माला वे भूल जाएंगी।

और हुआ भी यही। मेहमानों के विदा होते ही उन्होंने पापा से कहा, 'क्या हो जाता है डियर तुम्हें? बर्थडे के दिन बच्ची को स्केलेटन प्रेज़ेंट करते तुम्हें बुरा नहीं लगा?'

पापा के होंठों से फिर हंसी झर गई, 'देखो डार्लिंग, तुम फिलासफी में एम० ए० हो। फिर ज़िन्दगी की हकीकत को प्रेज़ेंट मानने से क्यों हिचकती हो? और हमारी बेटी तो डाक्टर बनने जा रही है, उसे भी तैयार होने दो। लैट हर लर्न टु एक्सेप्ट नेकेड फैक्ट्स, अंजू को भी नंगी सच्चाइयों से सामना करने दो!'

मम्मी का खूबसूरत चेहरा आवेश से विकृत होने लगा था। पापा गलती न मानने के अन्दाज़ में हंसते-हंसते सख्त होने लगे थे और मैं मम्मी और पापा के तनाव के बीच तनने लगी थी। खाने की मेज़ पर लज़ीज़ डिनर खाते-खाते हम तीनों उन खिलौनों-से जड़ हो गए थे, जिनकी चाबी खत्म हो गई हो।

याद आता है, बहुत छोटी थी तब। एक रात सपना देखते-देखते डर गई थी, रोने लगी। आया नई थी। उसके बहुत कोशिश करने के बावजूद जब मैं चुप न हुई तब वह मुझे मम्मी के बेडरूम तक ले गई। दरवाज़ा खटखटाने पर पापा निकले, 'तुम्हें बड़े घरों में काम करने का सलीका नहीं आता, आया? बेबी रो रही थी तो हमें क्यों डिस्टर्ब किया, तुम किसलिए हो? गेट आउट!' पापा ने धड़ाम से दरवाज़ा बन्द कर लिया। मैं सहमकर चुप हो गई और जब आया ने मुझे मेरे बेड पर लिटाया तो सिसकियों से घुटती सांसें लिए मैंने आंखें मूंद लीं। नन्हें-से मन में बार-बार आ

रहा था कि डर लग रहा है, मम्मी के पास जाऊंगी। लेकिन पापा के 'गेट आउट' ने नन्हें मन की कामना को ऐसा तमाचा जड़ दिया था कि उसे मैं कभी न भूल सकी।

सवेरे मुझे बुखार चढ़ आया था। जब आंख खुली तो कालिज के लिए तैयार मम्मी मेरा माथा सहला रही थीं, 'देखो आया, बेबी का ख्याल रखना। मैं नर्स भेज दूंगी और शाम को पांच-छह बजे तक आऊंगी। एक मीटिंग है।'

और वह चली गईं। एक घंटे में ही उनकी भेजी नर्स आ गई। डाक्टर भी आए। मुझे रुलाई अब भी आ रही थी। नर्स का चेहरा काला था और इतना कठोर लग रहा था कि मैं बिना उसकी ओर देखे कड़वी दवा चुपचाप पी लेती रही थी। जल्दी ठीक हो जाऊं तो इस गन्दी नर्स से पीछा छूटे, कितनी काली है, लेकिन मम्मी तो बिलकुल गोरी है फिर क्यों कभी-कभी इस नर्स-जैसी कठोर लगने लगती हैं। मुझे अकेली छोड़कर जाती मम्मी का चेहरा भी तो इसी नर्स की तरह हो गया था। और फिर तीन दिन तक मैं आंखें बन्द किए चुपचाप कड़वी दवा पीती रही। मम्मी कालिज जाती रहीं। पापा आफिस जाते रहे। और रात को भी मैं अपने बेड पर अकेली सोती रही। हां, उन तीन रात मेरे पास आया के साथ नर्स भी थी।

बुखार उतरने पर मुझे लगा, मैं कहीं अकेली हो गई हूं। पापा और मम्मी बिलकुल मेरे पास वाले बेडरूम में ही तो सोते हैं। आया ने समझाया, 'तुम बड़े घर की बच्ची हो बेबी, बड़े घरों में बच्चे कहीं मम्मी के पास सोते हैं, मैं तो हूं न तुम्हारे पास!'

'क्यों आया, तुम्हारे कितने बच्चे हैं?' एक दिन मैंने पूछा।

'पूरे चार हैं बेबी।' आया मेरे बालों पर ब्रश फेर रही थी, 'छोटा तो अभी दूध पीता है। मैं तुम्हारे पास रहती हूं रात को न, रात भर रोता होगा बेचारा।'

'दूध पीता है, रात भर रोता होगा!' मुझे कुछ समझ नहीं आया, 'दूध पीता है तुम्हारा, आया? कैसे?'

'जैसे सब बच्चे पीते हैं।' आया हंसी और मुझे कपड़े पहनाने

लगी, स्कूल को देर हो रही थी।

उस दिन स्कूल में मेरा मन बिलकुल नहीं लगा। इतनी गलतियां की कि टीचर ने डांटा, लड़कियों ने चिढ़ाया। और मैं सोचती रही कि क्या ऐसे भी बच्चे होते हैं जो अपनी मां के इतने निकट होते हैं कि उसका दूध पीते हैं?

शाम को मम्मी पापा से कह रही थीं, 'आया रात में रुकने के लिए नानुकर कर रही थी। मैंने उसे डब्बे का दूध मगवा दिया है उसके बच्चे के लिए। डब्बे का दूध भी बहुत महंगा हो गया है, लेकिन अंजु को तकलीफ न हो इसके लिए खर्च तो करना ही पड़ेगा। अब आया रात में रुक सकेगी।'

जब मैं कुछ और बड़ी हुई तो समझने लगी कि मेरे लिए खर्च करने में मम्मी या पापा ने कभी कोई कमी नहीं की। मैंने जो मांगा, वह पाया···लेकिन क्या सच में मैंने जो मांगा, वही पाया?

हर रात मम्मी और पापा सोने जाने के पहले मुझे 'किस' करने आते रहे हैं। रेशमी, फ्रिल लगी, नाइटी पहने मैं एक मिनट के लिए मम्मी और पापा के गले में हाथ डालकर छोड़ देती हूं, 'गुड नाइट डार्लिंग, गुड नाइट अंजु।' कहकर मम्मी और पापा चले जाते हैं। पापा अकसर मम्मी के कन्धे हाथ से घेरे होते हैं और मम्मी पापा से सटकर चल रही होती है। मैं, पापा और मम्मी को हर रात सोने से पहले इस रूम में देखने की आदी हूं, सटकर चलते। लेकिन फिर भी मुझे आज तक यकीन नहीं हो सका कि मम्मी और पापा सच में सटकर चलते हैं।

अनेक बार मेरा जी चाहा कि अपनी रेशमी नाइटी की फ्रिल नोंचकर फेंक दूं, जो मेरे और मम्मी के आलिंगन के बीच में आ जाती है···आया ने बताया था कि उसके बच्चों के पास कपड़े इतने कम हैं कि वे रात में उससे सटकर ही सो पाते हैं, वरना सर्दी लगती है। मेरे पास कपड़े इतने ज्यादा क्यों हैं, मैं सोचती रह जाती थी। लेकिन मम्मी और पापा के बीच में क्या आ जाता है, जो वे मुझे वास्तव में सटकर चलते जैसे नहीं लगते। कितनी

क्वालिफाइड हैं मम्मी, क्लिने डिग्नीफाइड हैं पापा। लेकिन प्रायः नाश्ते की मेज पर जब मम्मी एकदम चुप होती हैं और पापा एकदम नाश्ते में व्यस्त-से नाश्ता करते होते हैं तो मुझे यही लगता है कि रात को उनका साथ-साथ सटकर चलना झूठ था। सच क्या है, मैं सोचती रह जाती हूं।

नाश्ते की मेज पर मम्मी कहती हैं, 'डियर, आज शाम को जल्दी आ सकोगे? पिक्चर चलेंगे।'

नाश्ता समाप्त कर, व्यस्तता से घड़ी देखते पापा कहते हैं, 'सॉरी डार्लिंग, आज रात को देर से आऊंगा। बहुत दिनों से ब्रिज नहीं खेला, आज मेहरा के यहां ब्रिज-पार्टी है।'

क्वालिफाइड मम्मी आवेश में तनकर रह जाती हैं। कल्चर्ड हैं, इसलिए ज़बान से वह कुछ भी अशोभन नहीं कहतीं। डिग्नीफाइड पापा पूरी शालीनता से 'सॉरी' कहते हैं, इससे अधिक वह कर भी क्या सकते हैं!'

और मैं सवेरे ही समझ जाती हूं कि आज मम्मी भी देर से लौटेंगी, पापा भी। फिर जब हम दिन-भर अलग-अलग रहने के बाद खाने की मेज पर साथ होंगे तो मेरा जी चाहता रहेगा कि मम्मी पापा की ओर देखकर ऐसे मुस्कराएं कि उन आंखों में भीतर के रंग झिलमिला उठें···पापा मम्मी की मुस्कराहट का जवाब ऐसे हंसकर दें कि कमरे की बोझिल फिज़ा हल्की हो जाए और मैं खुलकर सांस ले सकूं···लेकिन मेरा जी चाहता ही रहेगा और ऐसा कुछ नहीं होगा। होगा केवल यह कि मम्मी कहेंगी, 'मेरा आर्टिकल छप गया है, तुमने देखा?' पापा कहेंगे, 'आज बिज़ी रहा डार्लिंग, समय ही नहीं मिला, फिर देख लूंगा।' मम्मी के चेहरे पर एक व्यंग्य उभरेगा, मानो वह कह रही हों, बिज़ी रहे, ब्रिज खेलने में? लेकिन वह कुछ बोलती नहीं हैं। पापा मिठाई का एक टुकड़ा उठाकर मम्मी को खिला देंगे तो वे नज़ाकत से कहेंगी, थैंक यू···लेकिन उनकी आंखों में कोई रंग नहीं झिलमिलाएगा। और हवादार कमरे की फिज़ा घुटती रह जाएगी।"

एक बार मम्मी से मैंने कहा था, 'मम्मी मुझे अकेला-अकेला

है। कितना अच्छा होता यदि मेरे भी बहन होती, भाई होता। आया के चार-चार बच्चे हैं।'

मम्मी ड्रेसिंग-टेबल के सामने खड़ी आंखों में मसकारा लगा रही थीं। मेरी ओर मुड़कर सख्त निगाहों से देखकर बोलीं, 'शट अप बेबी, ज्यादा बच्चे जाहिलों के होते हैं।' मैं सहम गई और फिर कई दिन तक रटती रही, ज्यादा बच्चे जाहिलों के होते हैं···शायद कल्चर्ड बच्चे अकेले ही होते हैं।

मुझे याद है उन दिनों मम्मी बिल्कुल यंग थीं···बहुत सुन्दर लगती थीं···उनके प्रिन्सिपल होने की बात चल रही थी और वे खुश भी बहुत थीं। तभी उन्होंने एक दिन अचानक मुझसे पूछा था, 'अंजु, डार्लिंग, क्या मैं तेरे पापा से दूर चली जाऊं तो तू किसके पास रहेगी? मेरे या पापा के?' मुझे लगा मानो मम्मी ने पूछा हो, 'मैं तेरी कौन-सी आंख फोड़ दूं, दाईं या बाईं?' पर मुझे तो दोनों आंखें चाहिए थीं···मैं रोने लगी थी और उनसे लिपट गई थी···कुछ नहीं बोल सकी थी···लेकिन बेहद डर गई थी। उस बात को वर्षों बीत चुके हैं। मम्मी और पापा आज तक साथ हैं, फिर भी मैं उस डर से मुक्त नहीं हो पाई हूं। प्रायः मुझे लगता है कि आज मम्मी फिर पूछेंगी, 'तू किसके साथ रहेगी, मेरे या पापा के?' और मैं फिर रोऊंगी। लेकिन न वह कभी ऐसा कुछ पूछती हैं, न मैं कभी रोती हूं फिर भी मैं आश्वास्त नहीं हो पाती। लगता है इस सुन्दर मजबूत बंगले की दीवारें कच्ची हैं, ये किसी भी क्षण गिर जाएंगी और मुझे दबा देंगी।

इस डर से मुक्त रहने के लिए मैं सदा व्यस्त रहती हूं, पढ़ाई में, मनोरंजन में। ये दीवारें तो आज तक नहीं गिरीं, लेकिन इन दीवारों को देखते-देखते मेरे भीतर चारों तरफ दीवारें खिच गई हैं, और मैं उनमें बन्द हो गई हूं। मुझे लगता है कि मेरा भावी जीवन-साथी, कोई 'प्रिन्स चार्मिंग' भी इन दीवारों को लांघकर मुझे नहीं पा सकेगा।

अकेलेपन से मुझे सदा डर लगता है। लेकिन जिस अकेलेपन के बीच में पली, बढ़ी हूं, क्या अब उसे स्वयं ही छोड़ सकूंगी। मुझे

लगता है पापा के साथ सटकर चलती मम्मी ने जो अकेलापन झेला है, वही मेरी नियति भी है। राकेश को जब देखती हूं, उसका चेहरा पापा का चेहरा बनने लगता है···मेरा चेहरा मम्मी का बनने लगता है और लगता है कि इस मजबूत सुन्दर बंगले की दीवारें कच्ची हैं, ये किसी भी क्षण गिर जाएंगी और मुझे निश्चय ही दबा देंगी।

मैं हंसते-हंसते उदास हो जाती हूं, बातें करते-करते चुप हो जाती हूं, तो सुनना पड़ता है मैं 'मूडी' हुई जा रही हूं। लेकिन किसी को कैसे समझाऊं कि उदासी ही मुझे सच लगती है, हंसना ही झूठ लगता है। मिस्टर एंड मिसेज देसाई की एकमात्र लाडली को आखिर कमी किस चीज की है जो वह उदास हो। सभी यह कहते-से प्रतीत होते हैं। और मेरे पास भी शब्द नहीं हैं कि मैं समझा पाऊं, मुझे रातें क्यों अकेली लगती हैं, दिन क्यों उदास हो उठते हैं···क्यों मैं हंसते-हंसते उदास हो जाती हूं, क्यों बातें करते-करते चुप ···।

कल सिटी-क्लब में 'मेड फार ईच अदर' कंटेस्ट था। मम्मी और पापा जज थे। मम्मी के सावधानी से किए मेकअप ने उन्हें चमका दिया था। पापा ने भी नया सूट पहना था। टाई की नाट लगाती मम्मी को पापा ने 'किस' कर लिया था। मैं देख रही थी, पापा का 'किस' मम्मी के कपोलों पर उचटकर रह गया था, समा नहीं सका था। शायद उन्हें लगा हो कि पापा ने बेकार ही उनका पाउडर बिगाड़ दिया, वे अपना मेकअप ठीक करने लगी थीं।

डायस पर एक दूसरे के पार्श्व में बैठे मम्मी और पापा इतने सज रहे थे कि मिसेज मेहरा ने कह दिया, 'आज के इन कंटेस्ट में तो आपको ही चुना जाना चाहिए मिस्टर एंड मिसेज देसाई! वाकई 'मेड फार ईच अदर' तो आप दोनों ही हैं।'

मम्मी शरमा-सी गई। पापा गर्वित-से हो उठे। मैं ध्यान से दोनों को ही देख रही थी, मैंने पाया, वे दोनों अपनी आंखों से अपने आपको ही देख रहे थे, गर्व से प्रसन्नता से! काश! वे अपनी आंखों में एक-दूसरे को देखते, मेरे मन ने चाहा।

फंक्शन देर से समाप्त हुआ। कार की चाबी मम्मी को ···

वोले, 'डार्लिंग, आज कार तुम ही ड्राइव करो। मैं थक गया हूं सिर में में दर्द भी है।'

मम्मी का स्वर तेज हो गया, 'सिर में दर्द था तो शोफार को रोक लेते, उसे क्यों छुट्टी दे दी। मैं भी तो थकी हुई हूं।'

पापा ने पीछे की सीट पर वैठकर ज़ोर से कार का दरवाज़ा वन्द कर लिया। मैं मम्मी के साथ आगे की सीट पर वैठ गई। मम्मी ने झटके से कार स्टार्ट कर दी। कार साठ मील की रफ्तार से दौड़ने लगी थी। अंधेरे में मम्मी का चेहरा स्पष्ट नहीं था। लेकिन मैं महसूस कर रही थी कि पिछली सीट पर सिगरेट फूंकते पापा और साठ मील की रफ्तार से कार ड्राइव करती मम्मी के चेहरे एक-से सख्त हो गए होंगे।

'तुम विटामिन की टेवलेट्स ले रहे हो?' सहसा मम्मी ने पूछा।

'आप दे रही हैं?'

पापा 'तुम' से 'आप' पर चढ़ गए थे। 'तुम' से 'आप' पापा के गुस्से का अन्दाज़ होता है, मुझे मालूम है।

घर लौटते-लौटते वारह वज गए। मम्मी और पापा ने सीढ़ियों पर ही मुझे 'किस' कर लिया, 'गुड नाइट डार्लिंग, गुड नाइट हनी।' और उनके वेडरूम का दरवाज़ा वन्द हो गया।

कपड़े चेंज करते मुझे लगने लगा कि आज ज़रूर भूकम्प आएगा और इस घर की सारी दीवारें गिर जाएंगी···'मेड फार ईच अदर' विद्रूप मुझे बुरी तरह डराने लगा था। मुझे नींद नहीं आ रही थी। सोचा देखूं, मम्मी और पापा क्या कर रहे हैं? उनके वेडरूम की एक खिड़की खुली रहती है, झांका तो 'डवल-वेड' पर दोनों एक-दूसरे की ओर पीठ किए लेटे थे। मैं देखती रही, उनमें से जव एक करवट लेता तव दूसरा सोने का अभिनय करने लगता। मुझे रुलाई आने लगी···जी चाहा कि दौड़कर मम्मी और पापा के पास जाऊं; उनके रेशमी लिहाफ खींचकर फेंक दूं और चीखकर कह दूं कि आप दोनों जाग रहे हैं फिर सोने का नाटक क्यों कर रहे हैं···पापा के सिर में दर्द है, मम्मी उनका सिर क्यों नहीं दवाने लगतीं···? पापा

क्यों नहीं एक ही बेड पर सोईं मम्मी को इतने निकट खींच लेते कि सारी दूरियां मिट जाएं···क्यों नहीं···क्यों नहीं···मुझे लगा की दीवारें नहीं, मैं ही गिर पड़ूंगी···मैं अपने बेडरूम में लौट आई और अपने रेशमी लिहाफ मे धंस गई···'मेड फार ईच अदर'···मम्मी···पापा मैं···राकेश···अंधेरे में सारे चेहरे विकृत होने लगे थे, मैंने उठकर रोशनी जला दी···तिपाई पर मम्मी और पापा का फोटो मुस्करा रहा था···एक 'मेड फार ईच अदर' मुस्कान···मम्मी और पापा तो सो गए होंगे, लेकिन मैं सारी रात करवटें बदलती रह गई।

तपिश के बाद

बैंक की ड्यूटी समाप्त कर निकलती हूं तो साढ़े चार बज जाते हैं। मुझे घर पहुंचने की जल्दी रहती है,कहीं आनन्द आ न गए हों! टीटू भी तो साढ़े चार तक स्कूल से लौट आता है और पड़ोस के वर्मा जी के घर खेलता रहता है। आज टीटू बैंक-एकाउंट्स के बीच दिन भर याद आता रहा। याद तो आनन्द भी आते रहे।

सवेरे सोकर उठने में कुछ देर हो गई थी। और सवेरे का समय इतना कसा होता है कि कहीं हिलने की गुंजाइश नहीं रहती। आनन्द को बेड-टी देकर टीटू को तैयार करना, खाना बनाना और बीच में स्वयं तैयार होना। घड़ी की सुइयों के साथ मैं भी घूमती रही हूं। आज टीटू का नेकर प्रेस नहीं हो सका, शर्ट तो प्रेस कर दी थी। नेकर प्रेस कर रही थी कि आनन्द बाथरूम से चिल्लाने लगे, 'सुमी, ज़रा टावेल देना और उस टेरेलिन शर्ट में बटन टांक देना, आज वही शर्ट पहननी है···'

जी में आया कि कह दूं, 'सुनो जी, आज कोई दूसरी शर्ट पहन लो। आज मुझे बहुत-से काम हैं।' लेकिन कह नहीं सकी। कैसे कहती ? बात शर्ट से बढ़कर जीवन की शर्त तक पहुंच जाती है। आनन्द बताने लगते हैं कि मुझे काम करने के तरीके नहीं आते या मैं जानबूझकर उनकी अवहेलना करना चाहती हूं।

प्रायः आसमान साफ रहता है कि एक छोटा-सा काले मेघ का टुकड़ा उठता है और फिर देखते-देखते सारा आसमान काला हो जाता है। तूफान उठ आता है। बहुत डरती हूं ऐसे तूफान से। अपने छोटे-से घोंसले से बहुत मोह है मुझे। और जब भी ऐसा तूफान उठता है, मैं उस गौरैया-सी कांपने लगती हूं जिसका घोंसला बवण्डर में बार-

बार उड़-उड़ जाता हो।

टीटू को बिना प्रेस की नेकर पहनाई तो वह रुआंसा हो उठा। "टीटू बेटे, मम्मी को आज माफ कर दो, कल तुम्हारे सारे कपड़े प्रेस कर दूंगी। आज डैडी की शर्ट में बटन लगा दूं।"

टीटू अपनी नन्हीं बाहें मेरे गले में डाल देता है जैसे कह रहा हो, कोई बात नहीं मम्मी! मैं टीटू का मुंह चूम लेती हूं और उसे जल्दी-जल्दी दाल-चावल खिला देती हूं। छोटे-से टिफिन में [illegible] रखकर उसके टिफिन-बाक्स में रख रही होती हूं कि बस आ जाती है। टीटू 'टा-टा' कहता दौड़ जाता है। टीटू की 'टा-टा' की मीठी प्रतिध्वनि में खोई मैं आनन्द की शर्ट में बटन टांकने लगती हूं।

आनन्द कपड़े पहनते हैं, तब तक मैं भी नहा लेती हूं और दोनों का खाना साथ ही प्लेटों में लगा लेती हूं। बीच-बीच में आनन्द कहते हैं, जरा बूट पकड़ा दो, जरा रूमाल दे दो···और इस 'जरा-जरा' को पूरा करने में लगने लगती हूं। मन में बार-बार आता है, 'क्या सारे कर्तव्य मेरे अकेले के ही हैं, आनन्द तो स्त्री-पुरुष की समानता में विश्वास करते हैं तभी तो कमाऊ बीवी चाहते थे। फिर यह क्यों नहीं समझते कि मुझे भी काम पर जाना है और मेरे भी दो ही हाथ हैं।'

साथ खाना खाने में प्रतीक्षा करने लगती हूं कि आनन्द कोई मीठी बात कहेंगे। शायद जल्दी में मुझे एक बार देखेंगे या अपनी प्लेट में कुछ उठाकर मेरी प्लेट में डालकर कहेंगे, 'खाओ', या कोई और से ' लेकिन इससे पहले कि मैं [illegible], आनन्द उठ चुकते हैं।

मैं चलने के पहले दुबारा [illegible] कि आनन्द बैग उठाकर चल दिए। "अच्छा 'डार्लिंग' [illegible] करना···" और एक अंग्रेजी 'डार्लिंग' को [illegible] दरवाजा बन्द करती हूं [illegible] कि [illegible] न बोलूं। [illegible] के [illegible] के बीच कुछ [illegible] छटपटाता मन विद्रोह करने लगता है। [illegible]

लगती हूं, आखिर मैं भी कमाती हूं, फिर इस छटपटाहट का प्रतिकार क्यों न लूं ?

आज दिन-भर टीटू की 'टा-टा' और आनन्द का 'बाय' कानों में गूंजता रहा। टीटू के भोले मुख के साथ आनन्द के घुंघराले बाल भी याद आते रहे। विवाह के प्रारम्भिक दिनों में जब मैं आनन्द के बालों में अंगुलियां फेरती थी, वह आंखें मूंद लेते थे, चेहरे पर ऐसी तृप्ति झलक आती थी कि उस तृप्ति को पाती मैं भी आकण्ठ तृप्त हो उठती थी। लेकिन अब आनन्द ऐसा अवसर ही नहीं देते कि मैं उनके बालों में अंगुलियां फेर सकूं। रात होगी तो कहेंगे, 'मुझे नींद आ रही है, तुम भी सो जाओ।' और दिन होगा तो परिहास में कहेंगे, 'क्या खोज रही हो मेरे बालों में ?' जी चाहता है कि कहूं, 'तुम्हें खोज रही हूं।' लेकिन फिर एक अव्यक्त मान से भरकर हट जाती हूं। मेरी लम्बी-पतली अंगुलियों का स्पर्श आज भी किसी भी पुरुष को पागल बना सकता है। अब यदि आनन्द इसे पाकर भी भूल गए हों तो मैं ही बढ़कर अपने रूप का अपमान क्यों सहूं ?

उस दिन मैंने नाभि-दर्शना साड़ी बांधी थी। आनन्द की नजर पड़ी तो मुझे निकट खींचकर बोले, "मेरी ही आंखों में रहो न सुमी, सबकी आंखों में क्यों रहना चाहती हो ?" और मैंने तुरन्त साड़ी चेंज कर ली थी। उस दिन सारे दिन आनन्द का 'मेरी ही आंखों में रहो' मन में सिहरता रहा था। शाम को जब लौटकर आनन्द की पसन्द की साड़ी पहनी, कानों में वे इअरिंग्ज भी पहने जिनसे सजे मेरे कानों को आनन्द कभी मुग्ध होकर चूम लेते थे। फिर आनन्द का इन्तजार करने लगी। आनन्द आए, बैग पलंग पर फेंकते हुए बोले, "क्यों, आज क्या बात है बड़ी सजी हो ?" आनन्द कपड़े बदलकर रोज की तरह अखबार देखने लगे। 'मेरी ही आंखों में रहो' वे भूल चुके थे। उस सज्जा को उतारते-उतारते मेरी आंखें आंसुओं से धुंधली हो उठीं। एक अतृप्ति का दंश लिए सारी रात मैं सपनों में चौंकती रही।

बार-बार ऐसे क्षण आते हैं जब मेरा नारी-मन समर्पण के फूल लिए आनन्द की ओर बढ़ता है, टकराकर बिखर जाता है। केवल एक

चुम्बन, एक दृष्टि, एक स्पर्श···लेकिन अपनी व्यस्तताओं में फंसे आनन्द को फुरसत नहीं होती।

देह-सुख आनन्द मुझे भरपूर देते हैं, किन्तु वह देह-सुख भी जैसे एक 'दर्रा' हो। मैं चाहती हूं कि इस दर्रे से परे आनन्द मेरे निकट हों, तन के ही नहीं, मन के स्तर पर बार-बार मुझमें सिमट आएं। लेकिन···

बैंक की सीढ़ियां उतरते हुए मैं देखती हूं कि ठेले पर सब्जियां बिक रही हैं। आनन्द को करेले बहुत पसन्द हैं, मैं करेले खरीदने लगती हूं। जब पहली बार आनन्द ने मेरे बनाए करेले खाए थे, तब मेरे हाथ खींचकर चूम लिए थे। 'इन स्वादिष्ट करेलों के लिए प्यार, सुमी···!' करेलों को रूमाल में बांधकर बैग में रखते आनन्द का वह चुम्बन हाथों पर ताजा हो उठता है। करेले आनन्द को आज भी पसन्द हैं। शायद आज करेलों के माध्यम से वे खोए क्षण फिर लौट जाए! एक मीठी सिहरन मुझमें रेंगने लगती है। मैं सोचने लगती हूं, आज करेले जी-जान से बनाऊंगी।

मैं रिक्शा पर बैठने को ही थी कि सविता पारिख आ गई। सविता बी० ए० में मेरे साथ पढ़ती थी। अब एक फर्म में रिसेप्शनिस्ट है। बांह में चिकोटी काटती हुई सविता कहती है, "हैलो, सुमी डार्लिंग, ये करेले किसके लिए हैं? अरे, तुम किसके लिए लोगी? उसी इन्श्योरेन्स एजेन्ट के लिए न, जो तुम्हारा मियां है। लेकिन आज मैं तुम्हें नहीं छोड़ूंगी, चाय कॉफी पिए। अरे, चल न!" और सविता मुझसे पहले रिक्शे में बैठकर रिक्शे वाले से कहती है, "कॉफी हाउस!"

मैं बेचैन होकर घड़ी देखती हूं आनन्द आ गए होंगे। नाराज होंगे। कितनी बार उनसे कहा कि एक चाबी अपने पास भी रखो। लेकिन आनन्द मानते नहीं, कहते हैं, 'तो आओगी।' और वैसे भी मुझे बैंक के बाद पांच बजे तक घर आ ही जाना चाहिए। उन्मुक्त सविता की बगल में बैठी मैं अपने बन्धनों के अहसास से खिन्न होने लगती हूं। आज मैं भी आराम से घर लौटूंगी। आखिर मेरा भी कुछ अधिकार है!

रिक्शे में मुझसे सटकर बैठी सविता के कन्धों तक कटे लहराते बाल मेरे कन्धों पर भी झूले आ रहे हैं। कटे-उड़ते बालों के साथ उड़ती-फिरती सविता की तुलना में मुझे अपना बंधा जूड़ा एक बन्धन-सा असह्य लगने लगता है। जी चाहता है कि रास्ते में ही किसी हेअर-ड्रेसर के यहां उतर जाऊं और अपने इन लम्बे केशों का बन्धन काट फेंकूं। लेकिन केश काट फेंकने से ही क्या होगा? उन बन्धनों का क्या होगा जो मेरे नारी-मन की अपनी ही विवशताएं हैं।

कॉफी का एक गहरा घूंट भरती हुई सविता हंसती है, "और सुना सुमी, क्या ठाठ है? वही कोल्हू के बैल के ठाठ न! दिन भर बैंक की नौकरी करती है, रात भर मियां की। मैं मजे में हूं। आजकल मेरा तीसरा इश्क चल रहा है, और वह आशिक कहता है कि उसे मेरी इस नाक से प्यार है···" सविता इतनी जोर से हंसती है कि मैं चौंक जाती हूं।

कॉफी मुझे बेस्वाद कड़वी लगती है। कॉफी के प्याले में आनन्द का चेहरा मुझे घूरने लगता है। मैं सविता की आंखों में देखती हूं, "सच बता सविता, क्या तेरा मन और कुछ नहीं चाहता?"

सविता के मुख पर काली छाया-सी घिर आती है। मैं जानती हूं, सविता को इस काली छाया का अहसास है, तभी न। वह और ज़ोर से हंस पड़ती है, "मन, मन, मन, अरी पगली मन-वन कुछ नहीं, केवल जिस्म बनकर देख। देखती नहीं, तू ऐसा परी-सा रूप लिए करेले खरीदती रहती है और मैं यह पकौड़े-सी नाक लिए अपने उस तीसरे मजनू के साथ यूरोप जाने वाली हूं, घूमने।"

सविता वैनिटी-बैग से पाउडर का डिब्बा निकालकर अपनी नाक पर पाउडर लगाने लगती है। हम दोनों हंसने लगती हैं, जैसे एक-दूसरे पर। लेकिन मुझे लगता है कि हम दोनों अपने आप पर ही हंसती रही हैं; एक ऐसी हंसी, जिसकी आंख में आंसू होते हैं।

घर से कुछ दूर ही मैं रिक्शा छोड़ देती हूं और पैदल घर तक आती हूं। मुझे रिक्शे से आता देख आनन्द की भौंहें तन जाती हैं। "क्या ज़रूरत है पैसे वेस्ट करने की, जब मैं बस से आता हूं तो

तुम क्यों नहीं ?" वह कहते हैं। ऐसे क्षणों में मेरा मन भीतर तक आहत हो उठता है। 'मैं आ सकता हूं तो तुम क्यों नहीं' मेरे कानों में किसी चोट-सा बजने लगता है। काश, आनन्द कहते, "सुनो, तुम रिक्शे में ही आया करो, मेरा क्या मैं तो किसी तरह भी आ सकता हूं, लेकिन तुम कोमल हो, थक जाती होगी • "

याद आता है, आनन्द से परिचय के दिनों में हम बसों में अक्सर मिलते थे। और भीड़ के बीच अपनी सीट मुझे देकर खड़े आनन्द को देखती मैं अपना हृदय हार बैठी थी। जब रिक्शे में कुछ 'वेस्ट' हों, इतने समर्थ हम हैं लेकिन आनन्द मेरी कोमल असमर्थता को आहत किए जाते हैं।

घर पहुंचती हूं तो छह बज चुके थे। आनन्द कठिन चेहरा लिए फ्लैट के सामने गैलरी में टहल रहे हैं। स्कूल-बाक्स पर बैठा टीटू पापा का तमतमाया चेहरा देखकर रुआंसा हो उठा है। मैं ताला खोलती हूं, टीटू दौड़कर मुझसे लिपट जाता है, "मम्मी भूख लगी है।" मैं उसे गोद में उठा लेती हूं, तभी आनन्द का सख्त स्वर गूंजता है, "कितने बजे हैं ?"

टीटू को गोद में लेती तरल होती मैं कठोर हो उठती हूं, "छह बजने में पांच मिनट है। क्या हुआ यदि एक दिन देर हो गई ?"

टीटू को दूध पिलाती मैं देखती हूं कि आनन्द का चेहरा क्रोध से काला पड़ने लगा है। अब काले मेघ का यह टुकड़ा देखते-देखते सारे आसमान पर छा जाएगा। अब फिर तूफान उठेगा। मैं गोरैया-सी कांपने लगती हूं, लेकिन आज मैं भी नहीं झुकूंगी।

आनन्द आते हैं, "पिक्चर चलोगी ?"

"मेरा मन नहीं है," मैं कहती हूं। मैं करेले छील रही हूं। आनन्द मेरे सामने खड़े आग्नेय दृष्टि से मुझ पूर रहे हैं। करेले छीलते मेरे हाथों में बरसों पहले का एक चुम्बन थरथराने लगता है। जी चाहता है कि सारा मान-अभिमान छोड़कर आनन्द से लिपट जाऊं। उनके शुष्क मुख को चुम्बनों से सिक्त कर दूं। उनसे कहूं कि वह भी सब कुछ भूलकर मुझे बांहों में समेट लें। लेकिन आहत मन

चोट खाई नागिन-सा फन काढ़कर खड़ा हो जाता है, मेरा उजला चेहरा भी आवेश से काला पड़ने लगता है।

"क्या समझने लगी हो अपने आपको ? बहुत अभिमान हो गया है अपने कमाने का ! यह मत भूलो कि मैं पल भर में तुम्हें ठुकरा सकता हूं···" आनन्द के शब्द हृदय पर हथौड़े-से पड़ते हैं। भीतर का सब कुछ खंड-खंड होकर बिखरने लगता है।

"हां, कमाती तो हूं और इसपर यदि मुझे अभिमान भी हो तो गलत क्या है ?" मैं चाहने लगती हूं कि इस क्षण आनन्द को भी वैसा ही आहत करूं जैसा वह मुझे करते रहे हैं। चोट खाई नागिन-सी मैं ही उठती हूं। एक यंत्रणा से छटपटाता मन यंत्रणा के प्रतिकार के लिए पागल हो उठता है।

"ज़बान लड़ाती है···" आनन्द मुझे तड़ातड़ पीटने लगते हैं। कोने में सहमा-सा खड़ा टीटू दौड़कर मुझसे लिपट जाता है, ज़ोर-ज़ोर से रोने लगता है। मैं करेले का बर्तन उठाकर फेंक देती हूं। टीटू को घसीटती लाकर बेड पर पटक देती हूं। एक पागल आवेश में अपने कपड़े अटैची में भरने लगती हूं। 'नहीं, नहीं रहना है मुझे पल भर भी यहां। अब इन्हें भी बता दूं कि मैं क्या हूं···'

यंत्रणा की भीषणता में मैं होश खो बैठती हूं। आनन्द के प्रति घृणा से मेरा रोम-रोम जलने लगता है। बैंक के मैनेजर विधुर हैं, उनकी आंखों में अपनी अभ्यर्थना कई बार देख चुकी हूं। यदि केवल मै चाहूं तो यह अभ्यर्थना सम्बन्ध में बदल सकती है। मैनेजर··· करेले··· आनन्द, मेरे चारों ओर गोल-गोल वृत्तों में चक्कर काटने लगटे हैं।

मुझे चक्कर आने लगते हैं। मैं फर्श पर ही लुढ़क जाती हूं। यंत्रणा आंखों से आंसू बनकर बहने लगती है। एक अव्यक्त चीत्कार कंठ में घुटने लगता है, सांस रुकने लगती है। लगता है, मैं कुछ नहीं हूं कहीं कुछ नहीं है क्या है ये सम्बन्ध जिनके पीछे पागल मृग-सा दौड़ता मन बार-बार आहत होता है। आनन्द···मैं··टीटू ···मैं अंधेरे कमरे में आंखें मूंदकर अपने भीतर के अंधकार में डूब

जाती हूं।

होश आता है तो पाती हूं आनन्द मेरे मुख पर पानी के छींटे दे रहे हैं, टीटू सिसक रहा है। "पापा, मम्मी को क्या हो गया? क्या हो गया मम्मी को? मम्मी को मारो मत···मम्मी को प्यार करो पापा···पापा···" टीटू का सिसकता स्वर कमरे में सिसकता-सा मंडराने लगता है। मैं कराहकर आंखें फिर मूंद लेती हूं। आनन्द स्विच ऑन कर देते हैं, कमरा बिजली के प्रकाश से भर उठता है।

प्यार···जैसे मेरे और आनन्द के लिए टीटू के मुख से 'प्यार' शब्द एक नये अर्थ में प्रतिध्वनित हो उठता है।

आनन्द मुझपर झुकते हैं, "मुझे माफ़ कर दो सुमी, मैं पागल हो गया था···" आनन्द का स्वर भीगा-सा है।

मैं आंखें खोलती हूं—आनन्द का स्वर ही नहीं मुख भी भीगा-सा है। "मुझे माफ कर दो आनन्द, मैं होश खो बैठी थी।" मैं बाहें फैला देती हूं। मेरी बाहों में बंधते आनन्द मुझे अपनी बाहों में समेट लेते हैं।

"टीटू, आओ मम्मी को प्यार करो बेटे," आनन्द कहते हैं, और प्यार करने लगते हैं। टीटू झट से मेरा बायां कपोल चूमता है, फिर ताली बजाकर हंसने लगता है। उसके अबोध मुख पर वही तृप्ति है जो कभी आनन्द के मुख पर होती थी।

मैं पूरी कोशिश करूंगी कि फिर ऐसा तूफ़ान न उठे—मैं अपने आपसे एक वादा करती हूं। आनन्द अभी भी मुझपर झुके हुए हैं। ऐसा ही कोई वादा वह अपने आप से कर रहे होंगे—मैं जानती हूं।

दिन भर की तपन के बाद हरसिंगार की गन्ध खिड़की की राह कमरे में उतरने लगी है—धीरे-धीरे।

म

ी सहेली उस स्टेशन पर उतर गई थीं। अब मैं कूपे में अकेली
मुझे भी दो स्टेशन बाद उतर जाना था। प्लेटफार्म पर बड़ी
-पहल थी। डिब्बे में उस शोर को सुनती, उस भीड़ को देखती
दार्शनिक' हो उठी थी। यह ट्रेन का सफर मुझे अकसर गम्भीर
जाता है, लगता है, यह ज़िन्दगी भी तो एक सफर है। यात्री
ढ़ते हैं, उतर जाते हैं। कभी भीड़ हो जाती है, कभी कोई अकेला
ह जाता। और, गाड़ी है कि चलती जाती है, निरन्तर। एक गहरी
त:श्वास उमड़कर मेरे होंठों तक आई, फिर भीतर लौट गई···ऐसे
ी कितना कुछ उमड़ता है, लौट जाता है, सागर में उठते ज्वार की
तरह। ज्वार कुछ क्षणों के लिए किनारे की सीमा लांघ ले, फिर भी
तो उसे लौट ही जाना है।

गाड़ी सरकने लगी थी कि कोई जल्दी से दरवाज़ा खोलकर
कम्पार्टमेंट में आ गया। देखा, कीमती सूट पहने, चश्मा लगाए,
हाथ में अटैची लटकाए कोई थे। व्यक्तित्व सम्भ्रान्त था, अत: मेरे
होंठों तक आई डांट भी लौट गई। वह चश्मा उतारकर पसीना
पोंछने लगे थे। शायद तब तक उन्होंने मुझे देखा नहीं था।

पसीना पोंछकर वह रूमाल जेब में रख रहे थे कि मैं चौंक गई,
अरे, यह तो सौमित्र हैं!

'ओ आप, तुम···!' मैं लड़खड़ा गई थी।

उन्होंने मुझे पल भर ध्यान से देखा फिर ज़ोर से हंस पड़े, 'एंड
इज इट यू अपर्णा, अप ?'

हां, ठीक सौमित्र ही थे। वह चेहरा दूसरा हो सकता था, किन्तु
वह गूंजती हंसी दूसरी नहीं हो सकती थी। वह गूंजती हंसी सौमित्र

की पहचान थी। इसी हंसी ने मुझे कभी उनसे बांध दिया था।

'अरे बाबा, तुम तो बिलकुल गोलगप्पा हो गई हो! तुम्हारे झकाझक काम्प्लेक्शन के बैकग्राउण्ड में चमकते इस तुम्हारे काले तिल ने तुम्हारी पहचान करा दी, वरना सच, तुम्हें पहचानना मुश्किल था।' सौमित्र ने हंसते-हंसते कहा।

'और तुम क्या कम खाते हो गए हो जो मुझे नजर लगा रहे हो!' मैं सहज हो गई थी। सौमित्र का वजन बीस पौंड तो जरूर बढ़ा होगा, मैं सोच रही थी।

लगभग दस साल के बाद हम एक दूसरे के सामने खड़े थे, सौमित्र और मैं। कभी हमने जीवन भर साथ रहने के सपने देखे थे।

सौमित्र के वजन के बारे में सोचते वह सौमित्र मेरी आंखों में कौंध गया जो बैडमिण्टन का चैम्पियन था। मैं कभी-कभी उससे खेला करती थी। उसके और मेरे पापा मित्र थे और हम बचपन से एक दूसरे को जानते थे।

उस दिन गेम में सौमित्र मुझसे हार गया था, शायद जानबूझकर। फिर सहसा मेरा हाथ पकड़कर पूछ बैठा था, 'अनू, जिन्दगी का गेम भी मेरे साथ खेलना पसन्द करोगी?'

'मैं क्या जानू, पापा से पूछो न!' मैं कानों तक लाल होती दौड़ गई थी। सौमित्र हंसता रह गया था। उस हंसी की गूंज को एकान्त में सुनते ही मेरे कान बार-बार लाल होते रहे'''मेरे कानों को उस क्षण की प्रतीक्षा थी, जब सौमित्र का प्रस्ताव, पापा की स्वीकृति बनकर मेरे पास पहुंचेगा!

किन्तु, वह क्षण कभी आया नहीं। एक दिन सहसा सुना कि सौमित्र इंग्लैंड जा रहा है। और फिर, एक दिन सहसा सुना कि सौमित्र ने इंग्लैंड में ही एक प्रवासी भारतीय की बेटी से शादी कर ली है!

मैं पीछे छूटे सौमित्र के बारे में सोचती खड़ी रह गई थी। सामने खड़े सौमित्र हंसते कह रहे थे 'अरे, बैठो तो अपर्णा, या मुझे भी खड़ा ही रखोगी!'

मासूम

मेरी सहेली उस स्टेशन पर उतर गई थीं। अब मैं कूपे में अकेली थी। मुझे भी दो स्टेशन बाद उतर जाना था। प्लेटफार्म पर बड़ी चहल-पहल थी। डिब्बे में उस शोर को सुनती, उस भीड़ को देखती मैं 'दार्शनिक' हो उठी थी। यह ट्रेन का सफर मुझे अकसर गम्भीर बना जाता है, लगता है, यह जिन्दगी भी तो एक सफर है। यात्री चढ़ते हैं, उतर जाते हैं। कभी भीड़ हो जाती है, कभी कोई अकेला रह जाता। और, गाड़ी है कि चलती जाती है, निरन्तर। एक गहरी निःश्वास उमड़कर मेरे होंठों तक आई, फिर भीतर लौट गई···ऐसे ही कितना कुछ उमड़ता है, लौट जाता है, सागर में उठते ज्वार की तरह। ज्वार कुछ क्षणों के लिए किनारे की सीमा लांघ ले, फिर भी तो उसे लौट ही जाना है।

गाड़ी सरकने लगी थी कि कोई जल्दी से दरवाजा खोलकर कम्पार्टमेंट में आ गया। देखा, कीमती सूट पहने, चश्मा लगाए, हाथ में अटैची लटकाए कोई थे। व्यक्तित्व सम्भ्रान्त था, अतः मेरे होंठों तक आई डांट भी लौट गई। वह चश्मा उतारकर पसीना पोंछने लगे थे। शायद तब तक उन्होंने मुझे देखा नहीं था।

पसीना पोंछकर वह रूमाल जेब में रख रहे थे कि मैं चौंक गई, अरे, यह तो सौमित्र हैं!

'ओ आप, तुम···!' मैं लड़खड़ा गई थी।

उन्होंने मुझे पल भर ध्यान से देखा फिर जोर से हंस पड़े, 'एंड इज इट यू अपर्णा, अप?'

हां, ठीक सौमित्र ही थे। वह चेहरा दूसरा हो सकता था, किन्तु वह गूंजती हंसी दूसरी नहीं हो सकती थी। वह गूंजती हंसी सौमित्र

की पहचान थी। इसी हंसी ने मुझे कभी उससे बांध दिया था।

'अरे बाबा, तुम तो बिलकुल गोलगप्पा हो गई हो! तुम्हारे सकाशक काम्प्लेक्शन के बैकग्राउण्ड में चमकते इस तुम्हारे काले तिल ने तुम्हारी पहचान करा दी, वरना सच, तुम्हें पहचानना मुश्किल था।' सौमित्र ने हंसते-हंसते कहा।

'और तुम क्या कम खासे हो गए हो जो मुझे नज़र लगा रहे हो!' मैं सहज हो गई थी। सौमित्र का वज़न बीस पौंड तो ज़रूर बढ़ा होगा, मैं सोच रही थी।

लगभग दस साल के बाद हम एक दूसरे के सामने खड़े थे, सौमित्र और मैं। कभी हमने जीवन भर साथ रहने के सपने देखे थे।

सौमित्र के वज़न के बारे में सोचते वह सौमित्र मेरी आंखों में कौंध गया जो बैडमिण्टन का चैम्पियन था। मैं कभी-कभी उससे खेला करती थी। उसके और मेरे पापा मित्र थे और हम बचपन से एक दूसरे को जानते थे।

उस दिन गेम में सौमित्र मुझसे हार गया था, शायद जानबूझकर। फिर सहसा मेरा हाथ पकड़कर पूछ बैठा था, 'अपू, ज़िन्दगी का गेम भी मेरे साथ खेलना पसन्द करोगी?'

'मैं क्या जानूं, पापा से पूछो न!' मैं कानों तक लाल होती दौड़ गई थी। सौमित्र हंसता रह गया था। उस हंसी की गूंज को एकान्त में सुनते ही मेरे कान बार-बार लाल होते रहे···मेरे कानों को उस क्षण की प्रतीक्षा थी, जब सौमित्र का प्रस्ताव, पापा की स्वीकृति बनकर मेरे पास पहुंचेगा!

किन्तु, वह क्षण कभी आया नहीं। एक दिन सहसा सुना कि सौमित्र इंग्लैंड जा रहा है। और फिर, एक दिन सहसा सुना कि सौमित्र ने इंग्लैंड में ही एक प्रवासी भारतीय की बेटी से शादी कर ली है!

मैं पीछे छूटे सौमित्र के बारे में सोचती खड़ी रह गई थी। सामने खड़े सौमित्र हंसते कह रहे थे 'अरे, बैठो तो अपर्णा, या मुझे भी खड़ा ही रखोगी!'

हम एक ही सीट पर दूर-दूर बैठ गए।

'लेकिन, कहना पड़ेगा कि यू आर स्टिल वेरी चार्मिंग !' सौमित्र ने शायद सहज होने के लिए कहा। स्वर में कोई कम्पन न था। हो भी कैसे सकता था? ऐसे कम्पनों की उम्र तो हम बहुत पीछे छोड़ आए थे। हां, एक समय होता है जब हवाओं में खुशबू घुल जाती है ··फिर वह खुशबू जाने कब, कहां खो जाती है! और हवा सिर्फ हवा रह जाती है!

दस साल बाद, कम्पार्टमेंट के एकान्त में मैं और सौमित्र आमने-सामने थे और हमारे गिर्द हवा बिलकुल सामान्य थी, सहज। सौमित्र ने मेरे सौन्दर्य की अभ्यर्थना भी की थी, 'चार्मिंग' कहा था। लेकिन मेरे कपोलों का तापमान बिलकुल सामान्य बना रहा। न कपोलों पर कोई रंग बरसा, न कोई उष्णता दौड़ी। हां, पलक पल भर के लिए झुकीं, फिर मैं सौमित्र की आंखों में देखने लगी, ऐसे ही जैसे हम किसीकी भी आंखों में देखते हैं। मन में उठते हल्के-से आलोड़न को दबाती, मैं उस सौमित्र का ज़िक्र भी नहीं करना चाहती थी, जो पीछे छूट गया था। हवा की वह खुशबू भी तो पीछे छूट गई थी, स्वर का वह कम्पन भी! अब सब कुछ सामान्य था, इसे ऐसा ही रहना भी चाहिए, मैं स्वयं से कह रही थी।

'मे आई स्मोक?' सौमित्र ने सिगरेट केस निकाल लिया था और बड़े शिष्टाचार से मेरी अनुमति मांग रहे थे।

'ओह, अवश्य!' मुझे कहना ही था। देवेश, मेरे पति भी तो ऐसे ही इजाजत मांगते हैं। मुझे देवेश याद आ गए। सौमित्र की तुलना में इक्कीस ही बैठेंगे, हर दृष्टि से। सौमित्र सांवले हैं, वह गोरे हैं। सौमित्र बैडमिण्टन में चैम्पियन थे, देवेश डी० लिट् हैं। सौमित्र का व्यक्तित्व एक खिलाड़ी का रहा है तो देवेश का मेधावी। फिर देवेश ने मुझे वह सब भरपूर दिया है कि मैं किसी भी सौमित्र को भुला सकूं। इन क्षणों सौमित्र के सामने बैठी मैं देवेश के ध्यान में सच ही भीग गई थी! सुनती आई थी कि प्रथम-प्रेम को भूलना कठिन होता है और उसकी स्मृति जीवन भर किसी प्रेतछाया-सी

देवेश मिल गए हैं और सौमित्र को खोने का कोई दुख मुझे नहीं है, रंचमात्र भी नहीं।

'निश्चय ही तुम सुख से हो, वह तो तुम्हें देखकर ही लगता है। वरना नाइंटीन सिक्स्टी की सुकुमारी, तन्वंगी अपर्णा राय नाइंटीन सेवेण्टी की अपर्णा···' सौमित्र रुक गए।

'अब अपर्णा सान्याल ! मैंने फिर ज़ोर देकर कहा। मेरे स्वर में दर्प था। क्या सौमित्र इसे लक्षित कर सकेंगे?

'हां, अपर्णा सान्याल होते-होते बिलकुल रसगुल्ला हो जाएगी, यह कौन सोच सकता था !' सौमित्र ने वाक्य पूरा किया। हंस पड़े। उसे हंसी की किरचें कम्पार्टमेंट भर में बिखर गई, शायद मेरे उनके बीच कहीं कुछ टूटा था, शीशे जैसा कुछ···लेकिन मैं किसी चुभन को नहीं स्वीकारूंगी, मेरा निश्चय था। सौमित्र भी तो उस चुभन को नकारते रहे हैं। इस क्षण भी नकार रहे हैं। यदि वह सबल हैं, तो मैं भी दुर्बल नहीं। मैं सीधे सौमित्र की आंखों में देख रही थी। वह भी मुझे ही देख रहे थे। शायद अपर्णा राय उन्हें याद आ गई थी या शायद वह केवल अपर्णा सान्याल को ही देख रहे थे। मैंने सौमित्र में किसी कम्पन को टटोला, हवा में किसी खुशबू को छूना चाहा, लेकिन नहीं, सब कुछ सामान्य था।

'मिस्टर सान्याल कैसे हैं?' कन्वे माई रिगार्ड्स टू हिम।' सौमित्र निश्चय ही केवल अपर्णा सान्याल को देख रहे थे।

'वह स्टेशन पर मुझे रिसीव करने आएंगे, मिल लेना। वैसे वे अच्छे हैं, बहुत अच्छे, जितना कि कोई हो सकता है !' मेरा मन बदला लेने के लिए आतुर हो उठा था। मुझसे 'प्रपोज़' करके सौमित्र ने मुझे सहसा प्रतीक्षा करते छोड़ दिया था और मुड़कर भी नहीं देखा था कि मैं कहां खड़ी रह गई हूं। पता नहीं, मुड़कर न देखने की कोई यातना सौमित्र ने झेली थी या नहीं, किन्तु प्रतीक्षा करने की वह यातना मैंने अवश्य झेली थी। और यदि, देवेश जैसा कोई न मिलता तो शायद वह यातना मुझे मार देती।

'जब तुम इतने सुख से हो तब निश्चय ही मिस्टर सान्याल बहुत

लेकिन नहीं, मैं टूटी कहां थी ? मेरा मन दुर्बल होते-होते, देवेश का ध्यान कर सबल हो उठा, सबल और तृप्त !

मेरा मन भी कोई मज़ाक करने को हो आया, 'जानते हो सौमित्र, मेरे एक बेटी है और मैंने उसका नाम सुमित्रा रखा है, तुम्हें याद रखने के लिए ?' मैं उद्धत हो उठी। चाह रही थी कि कोई नश्तर सौमित्र को चुभा दूं, वह नश्तर याद दिलाने के लिए जो वह मुझे चुभा गए थे।

'मुझे याद रखने के लिए ! वेलडन !' सौमित्र अट्टहास कर उठे। वह अट्टहास मुझे ही आहत कर गया। शायद सौमित्र को कोई नश्तर नहीं काट सकेगा या शायद सौमित्र के लिए मैं वह हूं ही नहीं, जिसके नश्तर का कोई अर्थ होता है। पल भर के लिए मेरा अपना ही चेहरा मेरी आंखों में कौंधा। मेरी आकृति पर तृप्ति की सारी सुचिक्कनता के बावजूद मेरी खूबसूरत आंखों के गिर्द स्याह घेरे हैं·· ये घेरे गहरे होते जा रहे हैं···ज़िन्दगी में बहुत कुछ मिलने पर भी जो 'कुछ' नहीं मिला वह शायद इन्हीं स्याह घेरों में सिमट आया है।

सौमित्र की आंखों के गिर्द भी स्याह घेरे हैं। बीस पौंड वज़न अवश्य बढ़ा होगा, लेकिन ये घेरे फिर भी हैं। क्या सौमित्र ने भी बहुत कुछ पाकर भी 'कुछ' नहीं पाया है ? कभी-कभी यह मन का चातक भी कितना बावला हो उठता है कि अविरल रसधार-सी वर्षा को नकारता स्वाति की एक बूंद के लिए तड़पने लगता है···! सौमित्र से मुझे और कुछ नहीं चाहिए था। बल्कि मैं सतर्क थी कि कहीं वह असंयमित न हो उठे। सौमित्र की आंखों से कोई लाभ नहीं झांका था। किसी सुन्दर नारी-देह के लिए यह लोभ पुरुष की आंखों में अचानक ही जाग जाता है, किसी हिंस्र पशु की आंखों में शिकार को देखते ही उछल आई पाशविकता-सा ! यह पाशविकता शायद पुरुष की कमज़ोरी होती है ! सौमित्र की आंखों में कोई कमज़ोरी नहीं उभरी थी···उन आंखों का वह संयम मुझे बहुत अच्छा लगा था—ऐसा ही संयम तो देवेश की आंखों में भी है।